शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ९

मोक्ष का कारण

मोक्ष का कारण वीतरागता; वीतरागता का कारण अरागी चारित्र; अरागी चारित्र का कारण सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन है। पूर्ण अविकारी अखंड स्वभाव के बल से श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अपूर्ण निर्मल अवस्था और सम्यग्दर्शन ये पर्याय है। भेद के लक्ष्य से विकल्प-राग होता है, निर्मलता उत्पन्न नहीं होती। पर्यायदृष्टि गौण करके निश्चय अखंड स्वभाव का लक्ष्य करना चाहिये। ध्रुव स्वभाव के बल में वृद्धि करने से विकार का व्यय और अविकारी पूर्ण निर्मलता का उत्पाद होता है, अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भाव का संबंध सर्वथा छूट जाता है तथा वस्तु का अनंत गुणरूप निज स्वभाव वस्तुरूप से एकाकार रहता है, इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है।

(समयसार-प्रवचन)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२२४]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री प्रवचनसारजी शास्त्र—

यह अनमोल ग्रंथराज श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट की ओर से श्री समयसारजी के माफिक मोटे व बढ़िया कागज पर दोरंग में छपने का कार्य शुरु हो गया है।

आत्मप्रसिद्धि ग्रंथ—

इस ग्रंथ में श्री समयसारजी में से ४७ शक्तियों के ऊपर पूज्य कानजीस्वामी के विस्तृत प्रवचनों का संग्रह है जो कि अच्छे बढ़िया कागज पर श्री दिगम्बर जैन सेठी ग्रंथमाला बम्बई की ओर से छपना शुरु हो गया है।

भूल सुधार—

आत्मधर्म गतांक नं० २२३ में सैद्धांतिक चर्चा का जो लेख छपा है, उसमें भूल से लेखांक का नं० ६ छप गया है, वह लेखांक नं० ७ है। अत: जिज्ञासुगण अपने अंक में सुधार लेवें।

सूचना—

परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी अभिनंदन ग्रंथ में लेख भेजने का समय बढ़ाकर ३१-१-६४ तक का रखा है। सो नोट कर लेवें।

पता—पूज्य श्री कानजीस्वामी हीरक जयंती महोत्सव समिति

१७३-१७५ मुंबा देवी रोड, बम्बई नं० २

समयसार शास्त्रजी

परमागम श्री समयसारजी शास्त्र जो अत्यंत अप्रतिबुद्ध अज्ञानियों के लिये भी समझानेवाला शास्त्र है। जिसमें चारों अनुयोगों की बात आ जाती है। यह ग्रंथ पहले दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल बंबई द्वारा १५०० छपवाया गया था जो कि १ मास में ही सारा बिक गया एवं फिर भी अत्यधिक मांग होने से श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ की ओर से तृतीयावृत्ति छपकर पूर्ण हो गया है, १५ दिन में शीघ्र ही धर्म जिज्ञासुओं की सेवा में प्रस्तुत किया जावेगा।

—प्रकाशक

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ९

सम्यक् वात्सल्यगुणयुक्त ज्ञानी के शुद्धि की वृद्धि करनेवाली निर्जरा

दिव्य महिमावंत पुरुषार्थ

(समयसार निर्जरा अधिकार, गाथा २३५ ऊपर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन, तारीख २१-४-६३, चैत्र वदी २)

जो मोक्षपथ में 'साधु' त्रय का वत्सलत्व करे अहा!
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३५॥

जो धर्मी जीव मोक्षमार्ग में रहे हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों (साधनों) के प्रति (अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय, मुनि और साधर्मी के प्रति) वात्सल्य करता है, वह वात्सल्यभाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

परमार्थ वात्सल्य अर्थात् निज शुद्धात्मतत्त्व में निर्मल श्रद्धा-ज्ञान उपरांत आंशिक वीतराग दशा की वृद्धि होना, वह निश्चय वात्सल्य है, उसके साथ धर्मी जीवों के प्रति निर्मल वात्सल्यभाव होता है, ऐसे शुभराग को व्यवहार वात्सल्य कहने में आता है।

सर्वज्ञ वीतरागकथित तत्त्वार्थश्रद्धान-ज्ञान और आत्मानुभवसहित जीव को धर्मात्मा कहते हैं, वे कभी नीच कुल में जन्मे हों, बाह्य में निर्धन देखे जाते हों, तथापि अपने अज्ञानी पुत्रादि की अपेक्षा उनके प्रति धर्मी जीव को विशेष प्रेम होता है। सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आदि धर्म के स्थानों के ऊपर विशेष राग न होवे तो उसको सम्यग्दर्शन की भूमिका का यथार्थ ज्ञान नहीं है।

अहो ! रत्नत्रय के धारक साधु तो वीतराग परमेष्ठी हैं, जो त्रैलोक्य में वल्लभ हैं, जिनके प्रति चार ज्ञान के धारक श्री गणधरदेव तथा तीन ज्ञान के धारक इन्द्र भी परम प्रीति-वात्सल्यभाव रखते हैं। निरंतर गुणश्रेणी निर्जरासहित वीतरागचारित्र में आरूढ़ होकर जो अंतर परमेश्वर पद में रमते हैं, अतीन्द्रिय आनंदामृत रस की डकार लेकर अद्भुत तृप्ति का अभ्यास कर रहे हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी को हम नमस्कार करते हैं।

जिसको पंचपरमेठियों के प्रति पहिचानसहित प्रेम होवे, उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक के प्रति बहुमान, विनय, भक्ति आदि का भाव आये बिना नहीं रहता। आहारदान के समय भरत चक्रवर्ती मुनिराज के दर्शन की राह देखते हैं व भावना भाते हैं कि धन्य घड़ी, मुझे ऐसे संतों के दर्शन होवें, नवधाभक्ति सहित आहारदान देऊँ। जो निरंतर स्वरूप में एकाग्रता के बल द्वारा अंतर में केवलज्ञान निधान को खोदकर बाहर निकालने का महान-अपूर्व प्रयत्न करते रहते हैं, उनको श्रमण कहा जाता है। स्वयं को परमपद की बेहद महिमा वर्तती है और वीतरागता तथा उसको साधनेवालों का तीनों काल अस्तित्व बना रहे, ऐसी भावना होने से वीतरागस्वरूप की प्रसिद्धि करनेवाले-स्वरूप में लीनता द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करनेवाले, ज्ञानामृत का भोजन करनेवाले (अतीन्द्रिय ज्ञानानंद के भोक्ता) ऐसे साधु परमेष्ठी के मुझे कब दर्शन होंगे, ऐसी भावना सहित भरत चक्रवर्ती महल के बाहर निकलकर नंगे पैर मुनि का रास्ता देखते हैं।

जिसके पास छह खंड का राज्य, नवनिधि, अनेक हजार पद्मिनी जैसी स्त्रियाँ हैं। जिसके पुण्य का ठाठ साधारण मनुष्य की कल्पना में भी नहीं आ सकता, ऐसे पुण्य का सर्वथा निषेध-उपेक्षा और त्रिकाल अकषाय वीतरागस्वभाव का आदर, यह गृहस्थ में भी निरंतर होता है। भरतजी भावना भाते हैं, उसीसमय आकाश में से चारणऋद्धिधारी दो मुनि नीचे उतरते हैं। मानों चलते सिद्ध ही हों!! ....धन्य घड़ी ....केवलज्ञानरूपी निधान का खजाना खोलनेवाले मुक्तिदूत मिले। रोम-रोम में आनंद उछलकर, नम्रीभूत होकर, नमस्कारपूर्वक मुनि को प्रदक्षिणा देकर महल में ले जाते हैं, अतिशय उल्लास तथा नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देते हैं। धर्म धर्मी के बिना नहीं होता। धर्म रत्नत्रयरूप वीतरागभाव है, उसकी साधना करनेवाले के प्रति ज्ञानी को, गाय को उसके बछड़े के समान निस्पृह प्रेम आये बिना नहीं रहता और वहाँ स्वसन्मुखता की नि:शंक अखंड रुचि एक धारा से काम करती है। इसलिये मार्ग की अप्राप्ति के कारण अज्ञानदशा में जो कर्म का बंध होता था, वह अब होता ही नहीं है।

वात्सल्यता अर्थात् निस्पृह प्रीतिभाव। जो जीव मोक्षमार्गरूप अपने स्वरूप के प्रति रुचि तथा प्रीतिवाला होता है, उसको साध्य जो निज कारणपरमात्मारूप परमपद, उसमें ही रुचि-आदर -आश्रय और उत्साह की प्रधानता होने से, विभाव-पराश्रय-व्यवहार की अंतरंग से प्रीति नहीं है; उनका आदर-आश्रय और भावना नहीं होने से उसको संसार के फल की प्राप्ति नहीं होती, लेकिन जिसकी महिमा-मुख्यता, आदर और आश्रय वर्तता है, ऐसे स्वरूप में ही मग्न रहने की भावना होने से उसका जोड़ उसके जीवन में निरंतर वृद्धि को प्राप्त ही होता जाता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि को शुद्धि की वृद्धि तथा आंशिक अशुद्धि की हानिरूप निर्जरा ही होती है, मार्ग की अप्राप्ति से होनेयोग्य बंध नहीं होता है। स्व-सन्मुखता की शक्ति (बल) अनुसार स्वरूप में शांति का रस बढ़ता है और अज्ञानदशा में बंधे हुए कर्म उदय में आकर उनकी निर्जरा हो जाती है। (२३५)

अब प्रभावना गुण की गाथा कहते हैं:—

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ़ घूमता।
जिनराजज्ञानप्रभावकर, सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३६॥

अहो!! वीतरागविज्ञान प्रभावी-वीतराग दृष्टिवंत वीतरागचारित्र की भावनावाला-स्वयं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण अपने ध्रुवकारणज्ञानस्वभाव को कारण बनानेवाला होने से अपने ज्ञान की पूर्ण शक्ति को प्रगट करने, विकसित करने के द्वारा वीतराग विज्ञानरूपी रथ पर आरूढ़ होता हुआ (अर्थात्) जिन ज्ञानरूपी रथ को चलने का मार्ग [सम्यक् रत्नत्रयी] उसमें भ्रमण करता है, वह आत्मस्वभावी ज्ञान की प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

वीतरागदृष्टि का विश्राम-आधार अकेले ध्रुव ज्ञायकभाव के ऊपर है। इसलिये धर्मी को अकेले ज्ञायकभावमयता के कारण शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा होती है। बीच में बाहर का दूसरा सब निकाल दिया। निमित्त-व्यवहार के भेद को गौण करके मोक्षमार्ग में उसका अभाव गिनकर उसको दृष्टि में से निकाल दिया, अर्थात् प्रथम से ही श्रद्धा में उसको मार्गरूप से माना नहीं है।

इसप्रकार प्रथम से ही धर्मी अपने एकरूप ज्ञायकभाव के आधार से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान, आनन्द, वीर्य आदि शक्तियों को प्रगट करके—विकसित करके—फैला करके प्रभावना करता होने से—जिनवीतरागमार्ग की प्रभावना से प्रभावना गुण को धारण करनेवाला है। ऐसे स्वसामर्थ्य के बल के विश्वास से चारित्र के लिये भी स्वरूप में उग्रता से विशेषरूप से स्वभाव की एकाग्रता—शुद्धता के प्रभावरूप ज्ञान रथ पर आरूढ़ होकर अंदर की गति में गमन कर रहा है।

सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण अर्थात् अनादि-अनंत एकरूप पूर्ण ज्ञानघन ऐसे अकेले ज्ञायकभाव को कारण-आधार बनाकर उसमें ही निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और एकत्व करता होने से जिनज्ञान-वीतरागी ज्ञान की अपने में प्रभावना करता है। ध्रुव, अखंडित कारणज्ञानस्वभाव के आलम्बनरूप निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता, वह निश्चय प्रभावना है, उसके द्वारा ही वीतरागी विज्ञानघन दशा को समय-समय में प्रगट कर रहा है, उसको सच्ची प्रभावना कही जाती है। वहाँ मंद पुरुषार्थ के काल में शुभराग आता है, वह तो व्यवहार प्रभावना है, पुण्यबंध की क्रिया है। जिनेन्द्र भगवान को रथ में विराजमान करके पूजा, भक्ति तथा जिनमंदिर, शास्त्र वगैरे संबंधी शुभभाव आता है, वह जिसको निश्चय धर्म प्रगट हुआ है, उसकी व्यवहार प्रभावना कहने में आती है।

पुस्तक लिखाना आदि शास्त्रज्ञान की प्रभावना का शुभभाव आता है किंतु यह सच्ची प्रभावना नहीं है। लेकिन भेदज्ञानसहित स्वसन्मुख ज्ञान की भावना करना-पर्याय में शुद्धि की वृद्धि प्रगट करना, वह सच्ची प्रभावना है। ऐसा निश्चय धर्म चौथे गुणस्थान से (गृहस्थदशा में हो या चारों गतियों में चाहे जहाँ हो) प्रगट हो सकता है।

जहाँ दृष्टि में (श्रद्धा में) वीतरागता और उसके उपरांत चारित्र में आंशिक निश्चय वीतरागता होती है, उसको सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि गुण होते हैं।

भावार्थः—धर्मी को अंतर में केवलज्ञान निधान को प्रगट करने का प्रयत्न वर्तता है। स्वसन्मुख ज्ञातापना वह पुरुषार्थ है। भले ही देर लगे किंतु स्वाश्रय एकाग्रतारूप श्रद्धा-ज्ञान, चारित्र, आनंद और वीर्यरूप पर्याय की निर्मलता होती जाती है। ऐसी प्रभावना को सच्ची (निश्चय) प्रभावना कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी ऐसी प्रभावना करता ही है, इसलिये उसको धर्म की अप्रभावनाकृत बंध नहीं होता किंतु पहले अज्ञानदशा में बंधे हुये कर्मों की निर्जरा ही होती है।

मार्ग प्रभावना अर्थात् उसका प्रकाश करना, महिमा बढ़ाना, धर्म को विशेष उज्ज्वल करना, धर्म की शोभा बढ़े वैसा करना, लेकिन इस कार्य को किसमें करना? कि जहाँ वह होवे, वहाँ पर कल्याण के मार्ग की प्रवृत्ति करना। वह स्थान देह में, देह की क्रिया में, वाणी में और शुभाशुभराग में या व्यवहार में नहीं है, क्योंकि वे तो आत्मा से भिन्न-बाहर की चीज़ें हैं; उनमें आत्मा नहीं है। भेदज्ञान द्वारा पर से और राग से भिन्न अंतर में अखंड ज्ञानस्वभाव को निश्चय दृष्टि का ध्येय बनाकर उसमें श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता का बल फैलाकर प्रगट पर्याय में स्वयं बलवान होवे तो उसकी

अंतरंग शुद्धि अर्थात् निर्जरा होती है। वहाँ भूमिका के योग्य प्रभावना का शुभराग आता है, उसको व्यवहार प्रभावना कहने में आती है। किंतु जिसने पूजा, भक्ति वगैरह के शुभराग को धर्म माना है, उसकी व्यवहार प्रभावना भी नहीं है। अनुपचार निश्चयधर्म के बिना उपचार (आरोपित) शुभराग में व्यवहार धर्म का आरोप आता ही नहीं। चौथे गुणस्थान से ही निश्चयधर्म की शुरुआत होती है।

इस गाथा में स्वाश्रित निश्चय प्रभावना का स्वरूप कहा है। जैसे जिनबिम्ब को रथ में स्थापन करके महान उत्सवसहित नगर, वन आदि में फिराकर तथा शास्त्र आदि द्वारा व्यवहार प्रभावना करने में आती है। उसीप्रकार जिस सम्यग्ज्ञानरूपी रथ में पूर्ण स्वरूपी आत्मा को स्थापन करके अंतर में ज्ञान की एकाग्रता द्वारा गमन करता है, वह ज्ञान की प्रभावना से युक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चय प्रभावना करनेवाला है।

गाथा २२९ से २३६ तक, इन आठ गाथाओं में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को नित्य स्वभावाश्रित निश्चयनि:शंकितादि आठ गुण निर्जरा के कारण कहे। इसीप्रकार अन्य भी शम-अनंतानुबंधी कषायों का शमन अर्थात् स्वरूप के लक्ष्य से असंख्य प्रकार के शुभाशुभ भावों के प्रति मन का स्वभाव से ही (सहज ही) शिथिल हो जाना; संवेग—धर्म तथा धर्म के फल में उत्साह और पंच परमेष्ठी के प्रति भक्ति; निर्वेद—स्वरूप में उत्साहसहित संसार, शरीर और भोगों के प्रति वैराग्यभाव; अनुकम्पा—वैररहित बुद्धि तथा आस्था, निंदा, गर्हा आदि, उसमें स्वसन्मुखता के बल से जितनी परिणामों की शुद्धता होती है, उतना निश्चय धर्म है, उससे तो निर्जरा ही होती है, बंध नहीं होता तथा शेष राग रहा, उससे बंध होता है, धर्म नहीं होता।

इस ग्रंथ में आत्माश्रित कथन मुख्य होने से नि:शंकित आदि गुणों का निश्चय स्वरूप (स्वाश्रित स्वरूप) यहाँ बताने में आया है। उसका संक्षेप में सारांश इसप्रकार है:—

(१) जो सम्यग्दृष्टि अपने पूर्ण ज्ञानस्वरूप में तथा उसके ज्ञान-श्रद्धान में नि:संदेहरूप होता है, भय के कारण मिलने पर भी स्वरूप से चलायमान नहीं होवे, संदेहयुक्त नहीं होवे, श्रद्धा में पूर्ण समाधानरूप होने से, उसके नि:शंकित गुण होता है।

(२) कर्म के फल की वांछा न करे, पुण्य-पाप और उसका फल, संसार तथा संसार का कारण (मिथ्यात्व तथा शुभाशुभ रागादि) उनकी वांछा न करे तथा अन्य वस्तुओं के धर्मों की (जगत के माने हुये इष्ट-अनिश्ट, सम्मान-अपमान, सुवर्ण-पाषाण, रोग-निरोग आदि पुद्गल के धर्म हैं, ऐसे किसी भी धर्म की) ज्ञानी को इच्छा नहीं है। चारित्र की कमजोरी से क्षणिक निर्बलता

के जितनी अल्प इच्छा होती है किंतु उसे कुछ इच्छा की इच्छा नहीं है। नित्य स्वभाव के संतोष को चूककर इच्छा नहीं है। बेहद सुख स्वभाव की बलवान दृष्टि के जोर से अल्प निर्बलता, इच्छा का कर्ता, भोक्ता या स्वामी नहीं होता। इससे भेदज्ञान की अधिकता द्वारा वह ज्ञेयरूप से ज्ञान की वृद्धि का निमित्त बनता है।

सर्व विभावों का निषेध करनेवाली दृष्टि और इच्छा के अभावरूप स्वभाव के बल से, कमजोरी के कारण होनेवाली इच्छा भी निर्जरा का निमित्त बनती है। शुभव्रतादि की भी इच्छा नहीं है, मोक्ष की इच्छा भी सम्यग्दृष्टि को नहीं है, ऐसा निःकांक्षित्व गुण होता है।

(३) मलिन पदार्थ, कोई क्षेत्र तथा अति उष्णशीत ऋतु का काल देखकर ग्लानि नहीं करता है, जड़ स्वभाव का ज्ञाता ही रहता है। प्रतिकूल देखकर हाय! हाय!! नहीं करता। ऐसा क्यों? ऐसा प्रश्न न उठकर सच्चा समाधान ही रहता है कि इस काल में ऐसा ही होनहार था। दिगम्बर मुनिदशा में शरीर को मलिन देखकर किंचित् भी ग्लानि नहीं करते। असंख्य प्रकार के काम क्रोधादि विकल्पों से अतिक्रांत और निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान में लीनता तथा आत्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय ज्ञान आनंद द्वारा वे महा सुखी हैं। मुनि तो बारम्बार छट्ठे सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले होते हैं। मुनि के शरीर में मलिनता, अस्नानता देखकर ग्लानि नहीं करना, वह व्यवहार निर्विचिकित्सा है और ज्ञातास्वभाव के प्रति अरुचि नहीं होने देना, निज परम पद में ही उत्कृष्ट रुचि होना, वह निर्विचिकित्सा नाम का अंग है।

(४) स्वरूप में तथा हेय-उपादेय आदि प्रयोजनभूत तत्त्वों की समझ में मूर्ख नहीं होता। प्रयोजनभूत स्वरूप को यथार्थ ही जाने, वह अमूढ़दृष्टि अंग है। शास्त्र में अनेक अपेक्षाओं से सूक्ष्म वर्णन आता है, वह मंद बुद्धि के कारण अपने समझ में नहीं आवे, तथापि उसमें हेय-उपादेय की भूल नहीं होने देता। अन्यमतों के तत्त्व कल्पित हैं, ऐसा निश्चय होने से उनके देव-गुरु-शास्त्र में सत्य बात होगी? थोड़ा तो सत्य होगा न? ऐसा वह नहीं मानता क्योंकि एक सेर दूध में किंचित भी जहर डालने से उसमें किसी भी प्रकार से दूध का गुण नहीं रहता है। उसीप्रकार जिसके मत में हेय, ज्ञेय और उपादेय तथा देव, शास्त्र, गुरु आदि का स्वरूप अन्यथा है, उसकी कोई भी बात प्रमाणभूत नहीं भासती। गुरु का स्वरूप कैसा होगा? सग्रंथ या निर्ग्रंथ? वस्त्र-पात्र सहित भी जैन गुरु हुए तो क्या हुआ? अन्यमत में महान गुरु हो गये हैं, ऐसी बातों को पढ़कर अथवा श्रवण करके भूल न होने देवे। अन्यमत में भी सच्ची श्रद्धा, आत्मज्ञान और चारित्रवान होंगे तो, इसप्रकार भ्रम में नहीं

पड़ता है किंतु सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को जैसे हैं, उसप्रकार बराबर माने, तथा उनसे विपरीत स्वरूप का किंचित् भी आदर नहीं करता। सर्व द्रव्य और उनके गुण-पर्याय तीनों काल स्वतन्त्र हैं, प्रत्येक वस्तु स्व रूप से है और पर रूप से नहीं है, पर के आधार से नहीं है। परद्रव्य-क्षेत्र-काल और परभाव जिसप्रकार के मिले वैसा होना पड़े—उनका असर, मदद, प्रभाव पड़ता है, ऐसा नहीं मानता। कर्तापना का लौकिक व्यवहार कथन और ऐसा राग आता है किंतु श्रद्धा में ऐसे व्यवहार कथन को यह 'ऐसा नहीं है किंतु निमित्त की अपेक्षा से कथन करने की ऐसी रीत है' वस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्याय से स्वतंत्र ही है, परतंत्र नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा दृढ़तापूर्वक जानता है।

शुभराग से-व्यवहार से परमार्थरूप धर्म तीन काल में भी नहीं हो सकता, इस सिद्धांत में दृढ़ निश्चयी होने से उससे विरुद्ध बात में किंचित् भी मूढ़ता नहीं होने देता। इससे सम्यग्दृष्टि के अमूढ़त्व गुण होता है, उसमें स्वाश्रित भाव से निर्जरा होती है, वह निश्चय से अमूढ़त्व है और इस जात का शुभभाव, वह व्यवहार से अमूढ़त्व अंग है।

लोक मूढ़ता तथा देव, गुरु और शास्त्र के संबंध में मूढ़ता नहीं होने देवे, इस विषय में श्री मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में बहुत स्पष्ट वर्णन है। सती द्रोपदी को पाँच पति मानते हैं, ऐसा नहीं हो सकता। निर्ग्रंथ मुनिपद स्त्री को तथा वस्त्रधारी को होता ही नहीं है।

सर्वज्ञ वीतराग अरहंतदेव को १८ दोष होते ही नहीं, उनको आहार, पानी होना, रोग, उपसर्ग, औषधोपचार करना तथा ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्रम-क्रम से ही होना मानना, ऐसा माने मनावे किंतु ऐसा नहीं है। कोई ऐसा कहे कि सर्वज्ञ तो उस काल के मनुष्यों में विशिष्ट विचारक खास बुद्धिमान होगा लेकिन तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को एकसाथ जाने, अनादि-अनंत को जान सके, ऐसा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, अथवा सर्वज्ञ निश्चय से आत्मा को ही जानते हैं, पर को जाने वह व्यवहार असत्य है, इसप्रकार जो सर्वज्ञ के स्वरूप को अन्यथा कहता है, उसके कथन को ज्ञानी मानते नहीं हैं। सर्वज्ञ भगवान पर को जानते हैं लेकिन पर में तन्मय होकर नहीं जानते, इसलिये वह व्यवहार कहने में आता है किंतु समस्त परज्ञेयों संबंधी ज्ञान अर्थात् स्व-परप्रकाशक रूप से ज्ञान की पर्याय वह निश्चय ही है।

(५) उपगूहन— अपने आत्मा को शुद्धस्वरूप में एकाग्र करे, निज शुद्धात्मा के अवलंबन के बल से अपनी शक्ति की वृद्धि करे तथा दोषों को गौण करे, एकांतवाद से दूषित किसी भी बात

का आदर नहीं होने देवें। इसमें स्वाश्रय के बल से परिणामों की शुद्धि होना, वह निश्चय धर्म अंग है और अन्य धर्मात्मा जीव के दोषों का गोपन करे, किसी के दोषों का प्रदर्शन नहीं करे वह व्यवहार से उपगूहन अंग है और अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करना तथा व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना, इसप्रकार के शुभभाव को व्यवहार उपवृहन कहते हैं।

शुभभाव को बढ़ाना, यह तो उपदेश का वचन है, इसका अर्थ यह है कि ज्ञान की वृद्धि का पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये। राग की वृद्धि करना, ऐसा वजन नहीं है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव करना, ऐसा व्यवहारनय के कथन में आता है, बाकी शुभराग के काल में शुभभाव आता ही है। पाँच महाव्रत का पालन करूँ, दूसरे भी महाव्रत का पालन करें तथा अतिचार दोषों को टालो, ऐसा उपदेश का राग आता है। ऐसा राग करूँ, उसको लावूं, ऐसा नहीं मानता है। ज्ञानी को भेदज्ञान तो निरंतर ही है कि राग मेरा स्वरूप नहीं है, वह हितकर नहीं है, मेरा कर्तव्य नहीं है, तथापि अमुक भूमिका में उस जाति का राग आये बिना नहीं रहता।

(६) स्थितिकरण:—स्वरूप की श्रद्धा-स्वावलंबी ज्ञान और शांति से च्युत हो जाये तो अपनी आत्मा को पुन: स्वरूप में स्थित करना, वह निश्चय स्थितिकरण और व्यवहारमोक्षमार्ग से चलायमान होने पर उसमें आत्मा को पुन: स्थिर करना, वह व्यवहार स्थितिकरण है, उसमें जितने अंश में वीतरागभाव हैं, उतने अंश में ही धर्म है; राग शेष रहा, वह धर्म नहीं है—ऐसे स्पष्ट भेद को ज्ञानी जानता ही है। श्रद्धा में हेय-उपादेय की प्रमाद के कारण सूक्ष्म भी भूल नहीं होवे, इसलिये सावधान रहता है, तथापि किंचित् भी अस्थिर हो जाये तो स्व-पर को स्थिर करने का राग आता है।

प्रश्न:—बिल्ली को दूध पिलाना, भूखे को भोजन कराना, वह स्थितिकरण अंग है या नहीं ?

उत्तर:—नहीं, लेकिन उनके प्रति अनुकम्पा का निषेध नहीं है। ज्ञानी को ऐसा शुभराग आता है किंतु उसको धर्म का अंग तरीके नहीं मानता है।

(७) वात्सल्य:—अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग अर्थात् मेरे लिये मेरा आत्मा ही इष्ट है, ध्रुव है, आधाररूप है, अन्य कोई नहीं है, ऐसी दृढ़तापूर्वक चिदानंदस्वरूप का घनिष्ट प्रेम, वह निश्चय वात्सल्य है। धर्मात्मा साधर्मियों के प्रति विशेष अनुराग, वह व्यवहार वात्सल्य है।

आंशिकरूप में भी निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट हुए बिना व्यवहारमोक्षमार्ग होता ही नहीं है। चौथे गुणस्थान से ही अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप स्वरूपाचरणचारित्र होता है, वह आंशिक

जघन्य मोक्षमार्ग है, वह निश्चय वात्सल्य है और अन्य साधर्मी धर्मात्मा के प्रति निस्पृह प्रेम होना—ईर्या, द्वेष नहीं होना, वह व्यवहार वात्सल्य है।

(८) प्रभावना:—आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित करना, प्रगट करना। निश्चय प्रभावना तो अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और शुद्धतारूप चारित्र प्रकट करना वह है और दूसरे लोग सर्वज्ञ वीतरागदेव का स्वरूप, सच्चे गुरु, धर्म का स्वरूप समझे और धर्म की महिमा बढ़े; इसप्रकार का शुभराग धर्मी जीव को भूमिकानुसार आए बिना नहीं रहता और ऐसा जो नहीं मानते, वे मिथ्यादृष्टि हैं तथा शुभराग से संवर निर्जरा (धर्म) माने तो भी मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि अपनी निश्चय शुद्धता, वीतरागता से ही शोभा मानता है और बाह्य में जिनमंदिर, रथयात्रा, पूजा, प्रभावना, काव्य शक्ति, उपदेश तथा शास्त्रों के प्रचार द्वारा धर्म प्रभावना का भाव आता है, वह व्यवहार प्रभावना है। नीचे की भूमिका में निर्विकल्पता अधिक समय तक टिकती नहीं है; इसलिए शुभभाव आता है किंतु जो शुष्क ज्ञानी हैं, वे अशुभ से बचने के लिये शुभभाव का निषेध करे और प्रमादी हो जाये, वह तो पाप ही बाँधता है। श्री पंचास्तिकाय शास्त्र में निश्चयाभासी को एकेंद्रिय वृक्ष के समान कहा है—मन में शुद्ध चिंतवन के जैसा मानकर प्रमाद में मस्त होकर पड़ा रहे और माने कि हमको आत्मा का निर्विकल्प ध्यान है, उनका अभिमान तो बढ़ा हुआ ही रहता है, उससे उनको देव, गुरु, धर्म का प्रेम तथा विनय, पूजा-भक्ति का उत्साह होता नहीं है। निश्चय का भाव तथा अनुभववाले को भी नीचली दशा में व्यवहार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र संबंधी प्रभावना का शुभभाव आता ही है।

यहाँ आठ निश्चय अंग कहे हैं, वे उनके प्रतिपक्षी दोषों द्वारा जो कर्मबंध होता था, उसको होने नहीं देते। चारित्र की कमजोरी से अल्प दोष होता है, तथापि नित्य निर्दोष स्वभाव के स्वामित्व के बल से उसका स्वामित्व तथा किसी भी दोष का आदर नहीं होने देता।

तत्त्व से, मोक्षमार्ग से विरुद्ध बात का स्वप्न में भी आदर नहीं होता किंतु निषेध ही वर्तता है; इसलिये सम्यग्दृष्टि को निरंतर निर्जरा ही होती है क्योंकि अज्ञानदशा में होने योग्य ऐसा नया बंध तो होता ही नहीं है। चौथे गुणस्थान से ४१ पाप प्रकृतियों का बंध तो कभी भी होता ही नहीं है, कारण कि मुख्य बंधन और पाप तो मिथ्यात्व की भूमिका में होता है। ज्ञानी को निरंतर ज्ञानचेतना का स्वामित्व और मुख्यता होने से अज्ञानचेतना-कर्ता भोक्तारूप विकल्प, उसका स्वामित्व और भावना नहीं है।

यहाँ श्री समयसार में निश्चय-प्रधान कथन होने से व्यवहार आठ अंगों का वर्णन गौणरूप से किया है। धर्म की भूमिकानुसार उचित निमित्तरूप से किस जात का राग होता है, वह बतलाने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है किंतु निमित्त की मुख्यता से भी किसी समय आत्महितरूप कार्य होगा, यह बात त्रिकाल झूठ है।

भेदज्ञानपूर्वक ज्ञानानंदस्वभाव में जितनी सावधानी, एकाग्रता करे, वह निश्चय धर्म और शुभ विकल्प आवे, वह व्यवहार अर्थात् उपचार धर्म है। धर्म नहीं, उसको धर्म क्यों कहना? कि जहाँ अनुपचार निश्चय धर्म होता है, वहाँ निमित्तरूप से ऐसा ही (इस जात का) राग होता है, ऐसा सहचरपना-निमित्तपना बताने के लिए उपचार से उसको भी धर्म कहना, उसका नाम व्यवहार है। उसको उसीप्रकार जानना चाहिये। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का विषय है। दोनों नय 'है' इस अपेक्षा समान है किंतु प्रयोजन की अपेक्षा दोनों में अंतर है। व्यवहार है, वह व्यवहार अपेक्षा उपादेय है किंतु निश्चय की मुख्यता में व्यवहार गौण है, धर्म की प्राप्ति के लिये आश्रय करने योग्य नहीं है, इस अपेक्षा से हेय है, त्याज्य है। प्रमाणज्ञान से निश्चय-व्यवहार के उपादेय-हेय का ज्ञान नहीं होता, गौण मुख्य का ज्ञान नहीं होता, उसमें दोनों नयों की प्रधानता है। प्रधानता अर्थात् दोनों को 'है' रूप से जानने के लिये बराबर है।

नयज्ञान अर्थात् जो एक अंग को मुख्य करे और दूसरे को गौण करके मुख्य विषय को जाने, और उसका प्रयोजन (तात्पर्य) वीतरागता ही है। स्यादवादमत में कोई विरोध नहीं है। नयविभाग और उसके प्रयोजन को नहीं समझनेवाले शास्त्र के व्यवहार कथन को निश्चय कथन मानकर विपरीत समझते हैं, किंतु हेय-उपादेय और गौण मुख्य का रहस्य समझनेवाले स्यादवादमत को माननेवाले को कहीं भी विरोध नहीं आता। प्रयोजन की सिद्धि के लिये नयविभाग द्वारा गौण मुख्य होता है किंतु व्यवहार के आश्रय से-राग के आश्रय से वास्तव में धर्म अथवा संवर-निर्जरा होगी, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग भी सच्चा धर्म नहीं है किंतु असत्यार्थ अर्थात् व्यवहार ज्ञेयरूप से वैसे स्थान में निमित्तरूप है, ऐसा जानना, वह स्यादवाद है।

साधकदशा में नीचली भूमिका में शुभराग किसप्रकार का होता है, यह जानने के लिये निश्चय के विषय के साथ उसका निरूपण किया जाता है। इसलिये दोनों को जहाँ जैसे होवे, उसीप्रकार जानना, उसका नाम प्रमाणज्ञान है। श्रद्धा में, हेय उपादेय के विषय में एक तो (पराश्रयरूप रागभाव) बंध का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है और एक (स्वाश्रयरूप

वीतरागता) मोक्ष का ही कारण है, बंध का कारण नहीं है–ऐसा निर्धार (निर्णय) करना चाहिये। व्यवहारनय का विषय जानने योग्य है किंतु धर्म के लिये आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा अभिप्राय कहीं पर भी है ही नहीं।

कलश १६२

निज शुद्धात्मा के आलंबन के बल से नवीन बंध को रोकता हुआ श्रद्धा में परिपूर्ण आत्मा को मानता हुआ, मेरा सच्चा स्वरूप देखा जाये तो मैं परमात्मा हूँ, ऐसा दृष्टि में लेने से मिथ्यात्वादि आस्रवों को रोकता है, पुराने कर्मों को स्वाश्रित निश्चय दृष्टि के बल से नष्ट करता हुआ, शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि का नाश करता हुआ, स्वयं अतिरस से निजरस में मस्त हुआ आदि–मध्य–अंतरहित एकरूप धारावाही ज्ञानरूप होकर स्व–पर प्रकाशक विशाल आकाश में अवगाहन (प्रवेश) करके सदा सर्वत्र ज्ञाता ही हूँ, शुभाशुभराग तथा पर की क्रिया का कर्ता, भोक्ता या स्वामी नहीं।

अज्ञानी की संयोग और विकार के ऊपर दृष्टि और रुचि होने से, शुभराग की क्रिया से उपवास हुआ और उससे निर्जरा होती है, ऐसा मानता है, लेकिन शरीर को भोजन प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए पुण्य है, ऐसा नहीं है, किंतु मंदकषाय–शुभभाव करे तो पुण्य है, उस शुभराग से अर्थात् अशुद्धता से लाभ माननेवालों को मिथ्यात्व का लाभ होता है।

संयोगी दृष्टिवाला ऐसा मानता है कि पाँच महाव्रत अंगीकार किये, इसलिये निर्जरा होती है; किंतु ऐसा नहीं है। कारण कि वह आत्मा का चारित्र नहीं है, किंतु राग की वृत्ति होने से चारित्र का दोष है, बंध का कारण है। जो भाव बंध का कारण है, वह अबंधभाव का–शुद्धभाव का कारण हो ही नहीं सकता।

रागरहित असंग स्वभाव की दृष्टिवाला जीव भले ही गृहस्थदशा में होवे, लेकिन वह वास्तव में गृहस्थ है ही नहीं। जहाँ रुचि है, वहाँ वह जागृत है। संयोग और शुभाशुभराग की अपेक्षा रहित, गुण–गुणी का भेद रहित, ऐसा चैतन्य चिंतामणि मैं हूँ, ऐसे अनुभव द्वारा अंतर की विश्रांति को प्राप्त हुआ होने से कहीं भी पराश्रय में आत्महित नहीं मानता। मैं तो नित्य ज्ञानघन स्वभाव में ही हूँ, पुण्य–पापरूप आस्रवतत्त्व में मैं नहीं हूँ—इसप्रकार स्वभाव की दृष्टि, स्वभाव का ज्ञान तथा स्वसंवेदन के बल से निजरस में तृप्त–तृप्त होता हुआ अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग करता है। अनादि की मूर्छा–बेभानपने की दशा नष्ट होकर निज महिमा में सावधान हुआ है, इसलिये उसको

अन्य कहीं भी आनंद नहीं भासता। मैं ही मोक्ष हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को नित्यानंद स्वभाव में संतोष वर्तता होने से, अज्ञानदशा में अन्यत्र आनंद भासता था, पराश्रय-व्यवहार में हित प्रतिभासित होता था, उसी के कारण निरंतर मिथ्यात्वादि पापकर्मों का बंधन होता था, वह अब कभी भी नहीं होता किंतु स्वभावदृष्टि के बल से शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा होती है।

ध्रुव स्वभाव-सन्मुख हुआ सो हुआ। जैसे नित्य चैतन्य धातु का नाश होता नहीं है, उसीप्रकार उसका अभेद आश्रय किया, उस आराधकभाव का भी नाश नहीं होता। इसलिये आदि-अंतरहित, अनंत सुखधाम में एकाग्रता के साथ धारावाही ज्ञान, ज्ञान का ही कार्य करता है; राग का नहीं। जैसे प्रकाश, प्रकाश का ही काम करता है; अंधकार का नहीं; उसीप्रकार धर्मात्मा को नित्यध्रुव स्वाधीनता की जो दृष्टि हुई है, वह दृष्टि-ज्ञान तथा स्वरूप के ओर की परिणति ध्रुवस्वभाव में स्थिर हुई, अंतर स्वभाव में विश्रांति मिली है; इसलिए वह ध्रुव चैतन्य के आश्रय से अंतरंग में ज्ञानधारारूप साधकभाव उत्कृष्ट पद मोक्ष को पुरुषार्थानुसार प्राप्त करता ही है।

स्वतंत्रता की प्राप्ति की रीत क्या है ? यह अपने अधिकार की बात है, समझ में आये ऐसी सरल बात है। प्रकाश किये बिना अंधकार दूर नहीं होता, उसीप्रकार अंतर में इसका निश्चित ज्ञान न करें तो मिथ्यात्वरूपी महापाप और अज्ञान अंधकार दूर नहीं होता।

जिसे संयोग तथा विकार की महिमा भासती है, वह तत्त्वज्ञान का निषेध करता है कि जानने -मानने में क्या रखा है ? उपवास करो, व्रतों का पालन करो, पूजा, भक्ति, यात्रा करो, इससे धर्म होगा। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि इसमें शुभराग होवे तो पुण्य बंध होगा, धर्म नहीं परंतु जो यह सत्य को नहीं मानता, शुभराग को धर्म मानता है तो उसको अनंत संसार का कारण मिथ्यात्व का महापाप लगेगा। हित-अहितकारी भावों संबंधी अज्ञानता, वह कुछ बचाव नहीं है।

व्रत, दया, दान, पुण्य तो अनंत बार किये, पुण्य का निषेध नहीं है किंतु उससे धर्म (आत्महित) माननेरूप मिथ्या श्रद्धा का निषेध है।

अरे! साक्षात् तीर्थंकर विराजते हों, उनके ऊपर दृष्टि रखे और हजारों बार उपदेश भी श्रवण करे परंतु यदि स्वयं भेदज्ञानी न होवे तो पुण्य-पाप की रुचि नहीं छूटती अर्थात् किंचित्मात्र भी धर्म नहीं होता।

पुण्य-पाप और शरीर की क्रिया, वह मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता, यह मान्यता छोड़कर एकरूप बेहद ज्ञानस्वभाव का आदर करके, उसी में स्वामित्व और पुण्य-पापरहित

निर्मल ज्ञानस्वभावी नित्य ज्ञाता ही मैं हूँ, उसमें दृष्टि, ज्ञान और उसका आश्रय करना, वह धर्म है, और उससे निर्जरा होती है। ज्ञानी को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान तथा भूमिकानुसार राग आता है किंतु उसको मोक्षमार्ग नहीं मानता और अज्ञानी पराश्रय से (व्यवहार से) धर्म मानता है। शास्त्राभ्यासी होने पर भी व्यवहार चाहिये, निमित्त चाहिये; इसप्रकार उनकी राग में ही रुचि काम करती है। इसलिये तो व्यवहाराभासी शुभराग की क्रियाकांड में पड़ा है और दूसरे राग की रुचिवाला स्वच्छन्दी निश्चयाभासी है, वह भी उसकी मूर्खता में-अविवेक में संतोष मानकर पड़ा है।

भेदविज्ञानी जीव चैतन्य चिंतामणि भगवान आत्मा की रुचि-महिमा और आश्रय करता हुआ स्वभाव में आनंद का उपभोग करता है। ●●

'ज्ञानी के गज दूसरे ही होते हैं'

स्कूल में पढ़नेवाला नव वर्ष का एक बालक रविवार का दिन होने से घर ही था; उसके पिता बाजार से एक मलमल का थान लाये। पुत्र ने पिता से पूछा कि यह थान कितने हाथ का है? पिता ने उत्तर दिया कि यह पचास हाथ का है। लड़के ने उस थान को अपने हाथ से मापकर कहा कि यह थान तो पचहत्तर हाथ का है! आपकी बात झूठ है। तब पिता ने कहा—भाई! हमारे लेन-देन के काम में तेरे हाथ का माप नहीं चल सकता।

उसीप्रकार यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि—संयोगदृष्टिवाले, बाह्यदृष्टिवाले बाल-अज्ञानी की बुद्धि में से उत्पन्न हुई कुयुक्ति अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव को मापने में काम नहीं आती। धर्मात्माओं के हृदय को अज्ञानी नहीं माप सकते। इसलिये ज्ञानी को पहिचानने के लिये प्रथम उस मार्ग का अपूर्वदृष्टि से परिचय करो, रुचि बढ़ाओ, विशाल बुद्धि, सरलता, मध्यस्थता और जितेन्द्रियता इत्यादि गुण प्रगट करो! संत की पहिचान होने से सत् का आदर होगा और तभी धर्मात्मा का उपकार समझ में आयेगा तथा अपने गुणों का बहुमान आकर वर्तमान में ही अपूर्व शांति प्रगट होगी। —समयसार-प्रवचन से।

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नं० ८ गतांक से चालू

[हमारे माननीय श्री रामजीभाई माणिकचंद दोशी-भूतपूर्व प्रमुख श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट (सोनगढ़) तथा आद्य संपादक 'आत्मधर्म', आपके द्वारा ही यह लेखमाला तैयार हो चुकी है जो क्रमशः चार-पाँच लेख में समाप्त होगी। - संपादक]

इस लेखमाला का तात्पर्य

मिथ्यात्व रागादि आस्रवतत्त्व हैं, महाव्रतादिक के शुभभाव भी आस्रवतत्त्व होने से बंधन के ही कारण हैं। जहाँ तक स्वयं सुखरूप आत्मा और दुःखरूप आस्रव के भेद को भावभासनपूर्वक जानते नहीं, वहाँ तक वह स्वयं पाप से सुख मानते हैं (अर्थात् व्यापार-धन कमाने, शरीर को निरोग-पुष्ट रखने के भाव से, अनुकूल सामग्री से तथा पंचेन्द्रियों के विषयों को सेवन करने के भाव से सुख मानते ही हैं) और पुण्य से (-शुभभाव से) धर्म मानते ही हैं।

सबसे बड़ा पाप तो—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वार्थों में अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व ही है। उसको नष्ट करने का प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के लिये निर्मल तत्त्वविचार साधन है। शुभभाव बीच में आते हैं किंतु उसमें सम्यक् शुद्धता लाने की जरा भी ताकत नहीं है।

धर्मी जीव को चतुर्थ गुणस्थान से निश्चय धर्म शुरु होता है और कमजोरीवश अपनी भूमिकानुसार व्यवहारधर्म भी होता है, व्यवहारधर्म में निमित्त की ओर झुकाव होता है, उसका ज्ञान करने का निषेध नहीं है, किंतु निमित्त और व्यवहार से लाभ मानना अथवा उसका आश्रय करने से शुद्धि होती है, ऐसी मान्यता मिथ्या होने से उसका निषेध है।

'सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को देखता-जानता-अनुभव करता है, अन्य समस्त ही व्यवहारभावों से अपने को भिन्न जानते हैं—परभावरूप सभी शुभाशुभ क्रियाओं को (-शुभोपयोग -अशुभोपयोग को) हेयरूप जानता है, अंगीकार नहीं करता' [दे० स्व० पं० श्री हेमराजजी कृत प्रवचनसार टीका अ०३, गाथा २ रायचंद्र जैन शास्त्रमाला, पृष्ठ २०४]।

सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में हर समय शुद्धनय के विषयभूत अपना आत्मा ही आश्रयरूप है,

उपादेय है कारण कि 'उद्धतमोह की लक्ष्मी को लूटनेवाला शुद्धनय है।' उसका प्रयत्न न करके जो जीव पुण्य-शुभभाव के पीछे पड़ते हैं, पराश्रयरूप व्यवहार करते-करते अर्थात् शुभोपयोग करते-करते भला होगा, ऐसा मानते हैं, उसकी मिथ्या मान्यता का निषेध है। पुण्य का निषेध नहीं है। पुण्यभाव को छोड़कर पाप में प्रवर्तन करना तो तीव्र स्वच्छंद है। **व्यवहार का नाम मिथ्यात्व नहीं है किंतु पराश्रयरूप व्यवहार से लाभ मानना, शरीरादि परद्रव्य का मैं कुछ कर सकता हूँ, परद्रव्य मेरा भला-बुरा कर सकते हैं**-ऐसी मिथ्या मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। विपरीत अभिप्राय रहित सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों की-हित-अहित की-सच्ची पहचान सहित अपने त्रैकालिक पूर्णरूप ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा प्रगट करना ही धर्म का (-सुखी होने का) प्रथम सोपान है।

प्रश्न नं० ३ संबंधी लेख में भूमिका

धर्म जिज्ञासुओं को खास समझने योग्य—

३२७—(१) दूसरे प्रश्न में तीन प्रकार का समय कहने में आया है, उनमें से शब्दसमय (-आगम समय का स्वरूप) इस प्रश्न के लिये संक्षेप में निम्नप्रकार है ''वहाँ (१) 'सम' अर्थात् मध्यस्थ, जो राग-द्वेष से विकृत नहीं हुआ; 'वाद' अर्थात् वर्ण, पद और वाक्य के समूहवाले पाठ××'' (पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका) नोंध-राग शुभ और अशुभ दो प्रकार का है; आगम शुभराग को भी अशुद्धभाव कहते हैं। अतः ज्ञानी जीव का शुभराग हो तो भी बंधन का ही कारण है; धर्मी जीव का शुभराग वीतरागता का कारण बन सके, या शुभराग करते-करते, राग में रुचि करते-करते, धर्मी जीव को वीतरागता उत्पन्न हो, ऐसा कभी भी शब्दसमय कहता नहीं है अर्थात् शुभराग करते-करते वीतरागता होगी, ऐसा आगम का अर्थ कभी भी हो सकता नहीं।

(२) चारों अनुयोगों का मूल, दिव्यध्वनि का साररूप श्री प्रवचनसार गाथा १२४ की टीका में धर्मी के शुभभाव का फल-निम्नप्रकार है 'तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूत दुःखम्' कहा है। जिसका फल दुःख हो, वह धर्म कैसे हो सकता है ? आप विचार कर लीजिये।

(३) श्री जयसेनाचार्य उस गाथा की टीका में कहते हैं कि—'जिस धर्मानुरागरूप शुभोपयोग लक्षण कर्म उसका फल चक्रवर्त्यादि पंचेन्द्रियविषय भोग अनुभवरूप वह अशुद्धनय से सुख, तो भी आकुलता उत्पादक होने से शुद्ध निश्चयनय से दुःख ही है। और जो रागादि विकल्परहित शुद्धोपयोग परिणतिरूप कर्म है, उसका फल अनाकुलता उत्पादक परमानन्द एकरूप सुखामृत है।' इसलिये 'शब्दसमय' में शुभोपयोग का स्वरूप क्या है, वह अब कहने में आता है।

निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप में कैसा निर्णय करना चाहिये ?

३२८—(१) 'निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है, वीतराग भावनिके और व्रतादिक के कदाचित् कार्य कारणपनो है* (*नैमित्तिक निमित्तपना) तातैं व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहे, सो कहने मात्र ही है'—(मोक्षमार्गप्रकाशक देहली, पृष्ठ ३७२)

(२) धर्म परिणत जीव को वीतरागभाव के साथ जो शुभभावरूप रत्नत्रय (-दर्शन -ज्ञानचारित्र) होते हैं, उसे व्यवहारनय द्वारा उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है जो कि वह रागभाव होने से बंधमार्ग ही है। ऐसा निर्णय करना चाहिये।

(३) व्यवहारमोक्षमार्ग वास्तव में बाधक होने पर भी उसका निमित्तपना बताने के लिये उसे व्यवहारनय से साधक कहा है, उस कथन ऊपर से कितनेक ऐसा मानते हैं कि निश्चय मोक्षमार्ग से व्यवहार मोक्षमार्ग विपरीत (-विरुद्ध) नहीं है किंतु दोनों हितकारी हैं, तो उनकी यह समझ (-मान्यता) झूठ है। इस संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक देहली, पत्र ३६५-६६ में कहा है कि—

(४) मोक्षमार्ग दोय नाहीं। मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहाँ सांचा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तौ है नाहीं, परंतु मोक्षमार्ग का निमित्त है, वा सहचारी है, ताकौं उपचार करि मोक्षमार्ग कहिये, सो व्यवहार मोक्षमार्ग है; जातैं निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। **सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार,** तातैं निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। **एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय-व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय माने है, सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तौ परस्पर विरोध लिये है।'** जातैं समयसार विषैं ऐसा कह्या है—

(५) 'व्यवहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो सुद्धणओ' याका अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है। सत्यस्वरूप को न निरूपे है, **किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरूपे है;** बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है, सो भूतार्थ है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, तैसा निरूपै है, ऐसे इन दोऊनिका (दोनों नय का) स्वरूप तो विरुद्धता लिये है। (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६६)

(६) प्रवचनसार गाथा २७३-७४ में तथा टीका में भी कहा है कि **'मोक्ष तत्त्व का साधनतत्त्व 'शुद्ध ही है''** और वही चारों अनुयोगों का सार है।

३२९—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तो विरुद्ध है ही,

परंतु निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप तथा फल परस्पर विरुद्ध है, इसलिये ऐसा निर्णय करने के लिये कुछ आधार निम्नोक्त दिये जाते हैं—

१- नियमसारजी (गुजराती अनुवादित) पत्र नं० १४९ निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार की गाथा ७७ से ८१ की भूमिका,

२- नियमसार गाथा ९१ पत्र १७३ कलश नं० १२२,

३- नियमसार गाथा ९२ पत्र १७५ टीका

४- नियमसार गाथा १०९ पत्र २१५ कलश-१५५ नीचे की टीका,

५- नियमसार गाथा १२१ पत्र २१४ टीका

६- नियमसार गाथा १२३ पत्र २४९ टीका

७- नियमसार गाथा १२८ पत्र १५९-६० टीका तथा फुटनोट

८- नियमसार गाथा १४१ पत्र २८२ गाथा १४१ की भूमिका,

प्रवचनसारजी (पाटनी ग्रंथमाला) में देखो:—

९- गाथा ११ टीका पत्र नं० १२-१३

१०- गाथा ४-५ टीका पत्र नं० ७

११- गाथा १३ की भूमिका तथा टीका पत्र १४-१५

१२- गाथा ७८ टीका, पत्र ८८-८९

१३- गाथा ९२ टीका पत्र नं० १०४-५

१४- गाथा १५९ तथा टीका पत्र २०३ (तथा इस गाथा के नीचे पंडित श्री हेमराजजी की टीका पत्र नं० २२०) (यह पुस्तक हिन्दी में श्री रायचंद्र ग्रंथमाला की देखना)

१५- गाथा २४८ तथा टीका पत्र ३०४ [तथा उस गाथा नीचे पंडित हेमराजजी की टीका हिन्दी पुस्तक-रायचंद्र ग्रंथमाला की]

१६- गाथा २४५ तथा टीका प० ३०१

१७- गाथा १५६ तथा टीका प० २०१

१८- श्री अमृतचंद्राचार्यकृत समयसारजी कलशों के ऊपर श्री राजमल्लजी टीका (सूरत से प्रकाशित) पुण्य-पापाधिकार

(१) कलश ४ पत्र १०३-४

(२) कलश ५ पत्र १०४-५

(३) कलश ६ पत्र १०६ (इसमें धर्मी के शुभभावों को बंधमार्ग कहा है)

(४) कलश ८ पत्र १०८

(५) कलश ९ पत्र १०९

(६) कलश ११ पत्र ११२-१३ यह सभी कलश श्री समयसार पुण्य-पापाधिकार में है वहाँ से भी पढ़ लेना,

१९- योगेन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा नं० ७१ में (पुण्य को भी निश्चय से पाप कहा है।)

२०- योगेन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा नं० ३२, ३३, ३४, ३७

२१- श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत मोक्षपाहुड़ गाथा ३१

२२- समाधिशतक गाथा १९

२३- पुरुषार्थ सिद्धउपाय गाथा २२०

२४- पंचास्तिकाय गाथा १६५, १६६-६७-६८-६९

२५- श्री समयसार नाटक में

पुण्य-पाप अ० कलश, १२ पृ० १३१-३२

पुण्य-पाप अ० कलश, ७ पृ० २२६-२७

पुण्य-पाप अ० कलश, ८ पृ० २२७-२८

२६- समयसारजी शास्त्र मूल गाथा टीका गाथा ६९, ७०, ७१, ७२, ७४, ९२, गाथा ३८ तथा टीका गाथा २१०, २१४, २७६-२७७-२९७ गाथा टीका सहित पढ़ना।

२७- १४५ से १५१, १८१ से १८३, पृष्ठ २९५ (-परस्पर अत्यंत स्वरूप विपरीतता होने से)

२८- ३०६-७, (शुभभाव व्यवहारचारित्र निश्चय से विषकुम्भ) २९७ गाथा में श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी स्पष्ट खुलासा है।

२९- श्री मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली सस्ती ग्रंथमाला) पृष्ठ नं० ४, ३२७-२८-३२-३३-३४-३७-४०-४१-४२-४३-४४, ३६०-६१, ३६५ से ३७१ (३७१, ३७५-७६-७७ पत्र में खास बात है) ३७२, ३७३-७५-७६-७७-९७, ४०७-८, ४५७, ४७१-७२।

व्यवहारनय के स्वरूप की मर्यादा

३३०—(१) समयसार गाथा ८ की टीका में कहा है कि 'व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिये व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है परन्तु×× **वह व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।**' फिर गाथा ११ की टीका में कहा कि **व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है,** इसलिये वह अभूत अर्थ को प्रगट करता है; **शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से** भूत अर्थ को प्रगट करता है ×× बाद में कहा है कि ×× इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।'

(२) गाथा ११ के भावार्थ में पंडितजी श्री जयचंदजी ने कहा है कि—

प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है, और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणी में व्यवहारनय का उपदेश, शुद्धनय का हस्तावलंबन (सहायक) जानकर बहुत किया है; **किंतु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है—वह कहीं कहीं पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि—'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।' ऐसा आशय समझना चाहिये॥११॥**

(३) कोई ऐसा मानते हैं कि प्रथम व्यवहारनय प्रगट हो और बाद में व्यवहारनय के आश्रय से निश्चयनय प्रगट होता है अथवा प्रथम व्यवहार धर्म करते-करते निश्चय धर्म प्रगट होता है तो वह मान्यता योग्य नहीं है, कारण कि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है। (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, देहली, पृष्ठ ३६६)

(४) निश्चय सम्यग्ज्ञान के बिना जीव ने अनंतबार मुनिव्रत पालन किये परंतु उस मुनिव्रत के पालन को निमित्त कारण नहीं कहा गया, **कारण कि सत्यार्थ कार्य प्रगट हुए बिना साधक (-निमित्त) किसको कहना ?**

३३१—(१)प्रश्न—"जो द्रव्यलिंगी मुनि मोक्ष के अर्थि गृहस्थपनों छोड़ि तपश्चरणादि करैं हैं, तहाँ पुरुषार्थ तौ किया, कार्य सिद्ध न भया, **तातैं पुरुषार्थ किये तौ कछु सिद्धि नाहीं। ताका**

समाधान—अन्यथा पुरुषार्थ करि फल चाहे, तो कैसे सिद्धि होय? **तपश्चरणादिक व्यवहार साधन विषैं अनुरागी होय प्रवर्त्तै, ताका फल शास्त्र विषैं तौ शुभबन्ध कह्या है, अर यहु तिसतैं मोक्ष चाहै है, तो कैसैं सिद्धि होय! अतः यहु तौ भ्रम है।**''मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४५६ देखो।

(२) मिथ्यादृष्टि की दशा में कोई भी जीव को कभी भी 'सम्यग् श्रुतज्ञान' हो सकता नहीं, जिसको 'सम्यक् श्रुतज्ञान' प्रगट हुआ है, उसे ही 'नय' होते हैं, कारण कि 'नय' ज्ञान वह सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश है अंशी बिना अंश कैसे? 'सम्यक् श्रुतज्ञान' (भावश्रुतज्ञान) होते ही दोनूं नय एकी साथ होय हैं, प्रथम और पीछे ऐसा नहीं है, इसप्रकार सच्चे जैनधर्मी मानते हैं।

(३) वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसी समय सम्यक् श्रुतज्ञान प्रगट होता है, सम्यक् श्रुतज्ञान में दोनुं नय अंशों का सद्भाव एकी साथ है आगे पीछे नय होते नहीं। निजात्मा के आश्रय से जब भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ, तब अपना ज्ञायकस्वभाव तथा उत्पन्न हुई जो शुद्धदशा, उसे आत्मा के साथ अभेद गिनना, वह निश्चयनय का विषय, और जो अपनी पर्याय में अशुद्धता तथा अल्पता शेष है, वह व्यवहारनय का विषय है। इसप्रकार **दोनों नय एक ही साथ जीव को होते हैं। इसलिये प्रथम व्यवहारनय अथवा व्यवहार धर्म और बाद में निश्चयनय अथवा निश्चय धर्म, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है।**

३३२—प्रश्न—निश्चयनय और व्यवहारनय समकक्ष है, ऐसा मानना ठीक है?

उत्तर—**नहीं, दोनों नय को समकक्षी माननेवाले एक संप्रदाय* है, वे**

---

* उस संप्रदाय की व्यवहारनय के संबंध में क्या श्रद्धा है? देखो—(१) श्री मेघविजयजी गणी कृत युक्तिप्रबोध नाटक (वह गणीजी कविवर श्री बनारसीदास के समकालीन थे) उनने निमित्त और व्यवहारनय के आलंबन द्वारा आत्महित होना बताकर श्री समयसार नाटक तथा दिगम्बर जैनमत के सिद्धांतों का खंडन किया है तथा (२) जो १६वीं शति में हुये-अब भी उनके संप्रदाय में बहुत मान्य हैं, वह श्री यशोविजयजी उपाध्याय कृत गुर्जर साहित्य संग्रह में पृष्ठ नं० २०७, २१९, २२२, ५८४, ८५ में दिगम्बर जैनधर्म के खास सिद्धांतों का उग्र, (-सख्त) भाषा द्वारा खंडन किया है, वे बड़े ग्रंथकार थे-विद्वान थे उनने दिगम्बर आचार्यों का यह मत बतलाया है कि:—
(१) निश्चयनय होने पर ही व्यवहारनय हो सकता है—व्यवहारनय प्रथम नहीं हो सकता,
(२) प्रथम व्यवहारनय तथा व्यवहार धर्म और पीछे निश्चयनय और निश्चय धर्म ऐसा नहीं है।
(३) निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों समकक्ष नहीं हैं-परस्पर विरुद्ध हैं। उनके विषय और फल में विपरीतता है।
(४) निमित्त का प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसा दिगम्बर आचार्यों का मत है इन मूल बातों का उस संप्रदाय ने उग्र जोरों से खंडन किया है—इसलिये जिज्ञासुओं से प्रार्थना है कि उसमें कौन मत सच्चा है, उसका निर्णय सच्ची श्रद्धा के लिये करें - जो बहुत प्रयोजनभूत है-जरूरी बात है।)

दोनों को समकक्षी और दोनों के आश्रय से धर्म होता है, ऐसा निरूपण करते हैं परंतु श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो स्पष्टरूप से फरमाते हैं कि भूतार्थ के (निश्चय के) आश्रय से ही हमेशा धर्म होता है, पराश्रय से (-व्यवहार से) कभी भी अंशमात्र भी सच्चा धर्म (-हित) नहीं होता। हाँ, दोनों नयों का तथा उसके विषयों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये। गुणस्थान अनुसार जैसे-जैसे भेद आते हैं, वह जानना प्रयोजनवान है परंतु दोनों समान हैं—समकक्ष हैं, ऐसा कभी नहीं है, कारण कि दोनों नयों के विषय में और फल में परस्पर विरोध है, इसलिये व्यवहारनय के आश्रय से कभी भी धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और टिकना होता ही नहीं, ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना चाहिये। समयसारजी में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत ११वीं गाथा को सच्चा जैनधर्म का प्राण कहा है। इसलिये उस गाथा और टीका का मनन करना चाहिये, गाथा निम्नोक्त है।

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है;
भूतार्थ के आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होय है, *(काव्य में)*

३३३—प्रश्न—व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है, वहाँ क्या प्रयोजन है?

समाधान—(१) सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धात्मद्रव्य के आलंबन द्वारा अपनी शुद्धता बढ़ाकर जैसे-जैसे शुद्धता द्वारा गुणस्थान में आगे बढ़ेगा, तैसे-तैसे अशुद्धता (-शुभाशुभ का) अभाव होता जायेगा और क्रमशः शुभभाव का अभाव करके शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करेगा, ऐसा दिखाने के लिये व्यवहार मोक्षमार्ग को परम्परा (निमित्त) कारण कहा गया है। यह निमित्त दिखाने के प्रयोजन से व्यवहारनय का कथन है।

(१) शुभभाव ज्ञानी को भी आस्रव (-बंध के कारण) होने से वे निश्चयनय से परम्परा भी मोक्ष का कारण हो सकते नहीं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा गाथा ५९ में कहा है कि **कर्मों का आस्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा भी निर्वाण प्राप्त हो सकता नहीं; इसलिये संसार भ्रमण के कारणरूप आस्रव को निंद्य जानो ॥५९॥**

(३) पंचास्तिकाय गाथा १६७ में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—'श्री अरहंतादि में भी राग छोड़ने योग्य है' पीछे गाथा १६८ में कहा है कि **धर्मी जीव का राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ का परम्परा कारण है।**

(४) इस विषय में स्पष्टीकरण श्री नियमसारजी गाथा ६०, पृष्ठ ११७ फुटनोट नं० ३ में कहा है कि 'शुभोपयोगरूप व्यवहार व्रत, शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु है-ऐसा

गिन करके यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष के परम्परा हेतु कहा है, वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि के योग्य शुद्ध परिणति ही (शुद्धात्मद्रव्य को आलंबन करती होने से) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग हेतु होती है, इसप्रकार इस शुद्धपरिणति में स्थित जो मोक्ष के परम्परा हेतुपना का आरोप, उसकी साथ रहा हुआ शुभोपयोग में करके व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहने में आता है। परंतु जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ रहे हुए शुभोपयोग में मोक्ष के परम्परा हेतुपने का आरोप भी कर सकते नहीं, कारण कि जहाँ मोक्ष का यथार्थ हेतु प्रगट हुआ ही नहीं—विद्यमान ही नहीं, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका करना ?'

(५) और पंचास्तिकाय गाथा १५९, पृष्ठ २३३-३४ में फुटनोट नं० ४ में कहा है कि—जिनभगवान के उपदेश में दो नयों द्वारा निरूपण होता है। वहाँ, निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ उपचरित निरूपण किया जाता है।

(६)प्रश्न—सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिये; अभूतार्थ उपचरित निरूपण किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—जिसे सिंह का यथार्थ स्वरूप सीधा समझ में नहीं आता हो, उसे सिंह के स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के निरूपण द्वारा सिंह के यथार्थ स्वरूप की समझ की ओर ले जाता है; उसीप्रकार जिसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप सीधा समझ में न आता हो, उसे वस्तुस्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तु स्वरूप की यथार्थ समझ की ओर ले जाते हैं। **और लम्बे कथन के बदले में संक्षिप्त कथन करने के लिये भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है।** यहाँ इतना लक्ष्य में रखने योग्य है कि—जो पुरुष बिलली के निरूपण को ही सिंह का निरूपण मानकर बिल्ली को ही सिंह समझ ले, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है, उसीप्रकार जो पुरुष उपचरित निरूपण को ही सत्यार्थ निरूपण मानकर वस्तुस्वरूप को मिथ्यारीति से समझ बैठे, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है।

[यहाँ एक उदाहरण लिया जाता है:—

(७) साध्य-साधन संबंधी सत्यार्थ निरूपण इसप्रकार है कि 'छठवें गुणस्थान में वर्तती हुई आंशिक शुद्धि सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।' अब, 'छठवें गुणस्थान में कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है—इस बात को भी साथ की साथ समझाना हो तो, विस्तार से ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धि के सद्भाव में, उसके साथ-साथ

महाव्रतादि के शुभ विकल्प हठ बिना सहजरूप से प्रवर्तमान हों, वह छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।' ऐसे लम्बे कथन के बदले में, ऐसा कहा जाये कि 'छठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान महाव्रतादि के शुभ विकल्प सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है', तो यह उपचरित निरूपण है। ऐसे उपचरित निरूपण में से ऐसा अर्थ निकालना चहिये कि 'महाव्रतादि के शुभ विकल्प (साधन) नहीं किंतु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि को बताना था, वह शुद्धि वास्तव में सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।']

(८) परम्परा कारण का अर्थ निमित्त कारण है। व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग के लिये भिन्न साधन-साध्यरूप से कहा है, उनका अर्थ भी निमित्तमात्र है। जो निमित्त का ज्ञान न किया जाये तो प्रमाणज्ञान होता नहीं, इसलिये जहाँ-जहाँ उसे साधक, साधन, कारण, उपाय, मार्ग, सहकारी कारण, बहिरंग हेतु कहा है, वे सभी उस-उस भूमिका के संबंध में जाननेयोग्य निमित्त कारण कैसा होता है, उसका यथार्थ ज्ञान कराने के लिये है।

(९) जो गुणस्थान अनुसार यथायोग्य साधक भाव, बाधक भाव और निमित्तों को यथार्थतया न जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। कारण कि उस संबंध में सच्चे ज्ञान के अभाव में अज्ञानी ऐसा कहता है कि भावलिंगी मुनिदशा नग्नदिगम्बर ही हो ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है तो उनकी यह बात मिथ्या ही है, कारण कि भावलिंगी मुनि को उस भूमिका में तीन जाति के कषाय चतुष्टय का अभाव और सर्वसावद्ययोग का त्याग सहित २८ मूलगुणों का पालन होते हैं, इसलिये उसे वस्त्र का संबंधवाला राग अथवा उसप्रकार का शरीर का राग कभी भी होता ही नहीं, ऐसा निरपवाद नियम है, **वस्त्र रखकर अपने को जैन मुनि माननेवाले को शास्त्र में निगोदगामी कहा है।** इसप्रकार गुणस्थानानुसार उपादान निमित्त दोनों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये; साधक जीव का ज्ञान ऐसा ही होता है, जो उस-उस भेद को जानता संता प्रगट होता है। समयसार शास्त्र में गाथा १२ में मात्र, इस हेतु से व्यवहारनय को **जानने के लिये प्रयोजनवानपना बताया है।**

(१०) स्व० श्री दीपचंदजी कृत ज्ञानदर्पण पृष्ठ २९-३० में कहा है कि याही जगमाहीं ज्ञेय भावकौ लखैया ज्ञान, ताकौ धरि ध्यान आन काहे पर हेरै है। पर के संयोग तैं अनादि दुःख पाए अब, देखि तू सँभारि जो अखण्ड निधि तेरै है। वाणी भगवान की कौ सकल निचौर यहै, समैसार आप पुन्य-पाप नाहिं नेरै है। यातै वह ग्रंथ शिव पंथ को सधैया महा, अरथ विचारि गुरुदेव यों परेरै

है ॥८५॥ **व्रत तप शील संजमादि उपवास किया, द्रव्य भावरूप दोउ बंध को करतु हैं। करम जनित तातैं करम को हेतु महा, बंध ही कौ करे मोक्ष पंथ कौ हरतु हैं।** आप जैसो होइ ताकौं आपकै समान करै, बंध ही कौ मूल यातैं बंध कौं भरतु हैं। **याकौं परम्परा अति मानि करतूति करैं, केई महा मूढ़ भवसिंधुमैं परतु हैं॥८६॥** कारण समान काज सब ही बखानतु है, यातै परक्रियामाहिं पर को धरणि है। याहि तै अनादि द्रव्य क्रिया तौ अनेक करी, कछु नाहिं सिद्धि भई ज्ञान की परणि है। करमको बंस जामै ज्ञानकौ न अंश कोउ, बढे भववास मोक्षपंथ की हरणि है। यातै परक्रिया उपादेय तौ न कही जाय, तातै सदाकाल एक बंध की ठरणि है॥८७॥ पराधीन बाधायुत बंध की करैया महा, सदा विनासीक जाकौ ऐसो ही सुभाव है। बंध, उदै, रस, फल जीमैं चारयौं एक रूप, शुभ व अशुभ क्रिया एक ही लखाव है। **करमकी चेतना में कैसैं मोक्षपंथ सधै,** मानें तेई मूढ़ हीए जिनके विभाव है। जैसो बीज होय ताकौ तैसो फल लागै जहाँ, यह जग मांहि जिन आगम कहाव है॥८८॥

शुभोपयोग के संबंध में सम्यग्दृष्टि की कैसी श्रद्धा है

३३४—(१) श्री प्रवचनसार गाथा ११ में तथा टीका में धर्म परिणत जीव के शुभोपयोग को शुद्धोपयोग से विरोधी शक्ति सहित होने से स्व कार्य (-चारित्र का कार्य) करने के लिये असमर्थ कहा है, हेय कहा है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि—**ज्ञानी (धर्मी) के शुभभाव में भी किंचित् भी शुद्धि का अंश नहीं है,** कारण कि वह वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग नहीं है-बंधमार्ग ही है, ऐसी बात होने पर भी जहाँ ज्ञानी के (धर्मी के) शुभभाव को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है, वह उपचार से कहा है।

(२) प्रश्न—किस अपेक्षा से वह उपचार किया है?

उत्तर—व्यवहारचारित्र के साथ निश्चयचारित्र हो तो वे (शुभभाव) **निमित्तमात्र है, उतना ज्ञान कराने की अपेक्षा वह उपचार किया है, ऐसा समझना।** और उपचार को सत्य मानना ठीक नहीं है। (धवल पुस्तक १४, पृष्ठ १३)

(३) प्रश्न—उपचार भी कुछ हेतु से किया जाता है, तो यहाँ वह हेतु क्या है?

उत्तर—(१)निश्चयचारित्र के धारक जीव को छठवाँ गुणस्थानक में वैसा ही शुभराग होता है परन्तु ऐसा व्यवहार से विरुद्ध प्रकार का राग कभी भी होता ही नहीं, कारण कि उस भूमिका में तीन प्रकार की कषाय शक्ति का अभाव सहित महामंद प्रशस्तराग होता है, उसे महामुनि नहीं छूटते जानकर उनका त्याग करते नहीं, भावलिंगी मुनियों को कदाचित् मंदराग के उदय से

व्यवहारचारित्र का भाव होता है, परन्तु उस **शुभभाव को भी हेय जानकर दूर करना चाहते हैं** और उस-उस काल में ऐसा ही राग होना संभव है—ऐसा राग बलजोरी से—(अपनी स्वसन्मुखता की कमजोरी से) आये बिना रहता नहीं किंतु मुनि उसे दूर से अतिक्रांत कर जाते हैं। इस हेतु से यह उपचार किया है, ऐसा समझना। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के दृढ़श्रद्धा होती है।

(२) इस संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३७६-७७ में कहा है कि—

''बहुरि **नीचली दशाविषैं केई जीवनिकै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग कौं मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचार तैं शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। जातैं बंधकौ कारण सोई मोक्ष का घातक है, ऐसा श्रद्धान करना।** बहुरि शुद्धोपयोग ही कौं उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोगकौं हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै, तहाँ अशुभोपयोगकौं छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्त्तना। जातैं शुभोपयोगतैं अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है।''

(३) ''बहुरि शुद्धोपयोग होय, तब तो परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहै है। तहाँ तो किछू परद्रव्य का प्रयोजन ही नाहीं। बहुरि शुभोपयोग हो, तहाँ बाह्य व्रतादिक की प्रवृत्ति होय, अर अशुद्धोपयोग होय, तहाँ बाह्य अव्रतादिक की प्रवृत्ति होय। जातैं अशुद्धोपयोग कै अर परद्रव्य की प्रवृत्ति के निमित्त नैमित्तिक संबंध पाइए है। बहुरि पहलै अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग होइ, पीछैं शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग होइ, ऐसी क्रम परिपाटी है। परन्तु कोई ऐसैं मानै कि शुभोपयोग है, सो शुद्धोपयोग कौं कारण है, जैसे अशुभ छूटकर शुभोपयोग हो है, तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। जो ऐसैं ही कार्य कारणपना हो तौ शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै। (तो ऐसा नहीं है) द्रव्यलिंगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है, शुद्धोपयोग होता ही नाहीं, तातैं **परमार्थ तैं इनकै कारणकार्यपना है नाहीं।** जैसे अल्परोग निरोग होने का कारण नहीं, और भला नहीं **तैसे शुभोपयोग भी रोग समान है, भला नहीं है।**'' (मोक्षमार्गप्रकाशक, देहली, पृष्ठ ३७५ से ७७)

(४) सभी सम्यग्दृष्टियों को ऐसा श्रद्धान होता है, परंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वे व्यवहार धर्म को मिथ्यात्व समझते हों; और ऐसा भी नहीं है कि उसे सच्चा मोक्षमार्ग समझते हों।

३३५—(१)प्रश्न—शास्त्र में प्रथम तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग और ४-५-६, गुणस्थान में अकेला शुभोपयोग कहा है, वह तारतम्यता की अपेक्षा से है या मुख्यता की अपेक्षा से है ?

उत्तर—यह कथन तारतम्यता अपेक्षा नहीं है परंतु मुख्यता की अपेक्षा से कहा है (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४०१, देहली) इस संबंध में विस्तार से देखना हो तो प्रवचनसार (रायचंद्र ग्रंथमाला) अध्याय ३, गाथा ४८ श्री जयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ ३४२ में देखो।

(२) प्रश्न—शास्त्र में कई जगह-शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मों का क्षय होता है, ऐसा कथन है, अब शुभ तो औदयिकभाव है-बंध का कारण है, ऐसा होने पर भी शुभभाव से कर्मों का क्षय बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—(१) शुभपरिणाम-रागभाव-(मलिनभाव) होने से वे किसी भी जीव के हो-सम्यग्दृष्टि के हो या मिथ्यादृष्टि के हो किंतु वे मोहयुक्त उदयभाव होने से सम्यग्दृष्टि का शुभभाव भी बंध का ही कारण है, संवर निर्जरा का कारण नहीं है और यह बात सत्य ही है, जिसे इस शास्त्र में पृष्ठ ५४७ से ५५६ में अनेक शास्त्र के प्रमाण द्वारा दिखाया है।

(२) शास्त्र के कोई भी कथन का अर्थ करना हो तो प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि वह किस नय का कथन है ? ऐसा विचार करने पर-सम्यग्दृष्टि के शुभभावों से कर्मों का क्षय होता है-वह कथन व्यवहारनय का है, इसलिये उसका ऐसा अर्थ होता है कि—**वह ऐसा नहीं है परंतु निमित्त बताने की अपेक्षा से यह उपचार किया है।** अर्थात् वास्तव में वह शुभ तो कर्मबंध का ही कारण है परंतु सम्यग्दृष्टि के नीचे की भूमिका में-४ से १० गुणस्थान तक-शुद्ध परिणाम के साथ वह वह भूमिका के योग्य-शुभभाव निमित्तरूप होते हैं, उसका ज्ञान कराना इस उपचार का प्रयोजन है, ऐसा समझना।

(३) एक ही साथ शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मों का क्षय जहाँ पर कहा हो, **वहाँ उपादान और निमित्त दोनों उस-उस गुणस्थान के समय होता है और इसप्रकार के ही होते हैं-विरुद्ध नहीं, ऐसा बताकर उसमें जीव के शुद्धभाव तो उपादानकारण है और शुभभाव निमित्तकारण है, ऐसे इन दो कारणों का ज्ञान कराया है, उसमें निमित्तकारण अभूतार्थकारण है**-वास्तव में कारण नहीं है; इसलिये शुभपरिणाम से कर्मों का क्षय कहना उपचार कथन है, ऐसा समझना।

(४) प्रवचनसार (पाटनी ग्रंथमाला) गाथा २४५ की टीका पृष्ठ ३०१ में ज्ञानी के शुभोपयोगरूप व्यवहार को 'आस्रव ही' कहा है, अतः उनसे संवर लेशमात्र भी नहीं है।

(५) श्री पंचास्तिकाय गाथा १६८ में भी कहा है कि 'उससे आस्रव का निरोध नहीं हो सकता', तथा गाथा १६६ में भी कहा है कि 'व्यवहार मोक्षमार्ग वह सूक्ष्म परसमय है और वह बंध

का हेतु होने से उसका मोक्षमार्गपना निरस्त किया गया है। गाथा १५७ तथा उसकी टीका में 'शुभाशुभ परचारित्र है, बंधमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है।'

(६) इस संबंध में खास लक्ष्य में (-ख्याल में) रखनेयोग्य बात यह है कि पुरुषार्थसिद्धि-उपाय शास्त्र की गाथा १११ का अर्थ बहुत समय के कितेक द्वारा असंगत करने में आ रहा है, उसकी स्पष्टता के लिये देखो इस शास्त्र के पत्र नं० ५५५-५६।

(७) उपरोक्त सब कथन का अभिप्राय समझकर ऐसी श्रद्धा करना चाहिये कि—धर्मी जीव प्रथम से ही शुभराग का भी निषेध करते हैं। अत: धर्म परिणत जीव का शुभोपयोग भी हेय है, त्याज्य है, निषेध्य है, कारण कि वह बंध का ही कारण है। जो प्रथम से ही ऐसी श्रद्धा नहीं करता उसे आस्रव और बंधतत्त्व की सत्यश्रद्धा नहीं हो सकती, और ऐसे जीव, आस्रव को संवररूप मानते हैं, शुभभाव को हितकर मानते हैं, इसलिये वे सभी झूठी श्रद्धावाले हैं। इस विषय में विशेष समझने के लिये देखो इस शास्त्र के पृष्ठ ५४७ से ५५६।

व्यवहारमोक्षमार्ग से लाभ नहीं है, ऐसी श्रद्धा करनेयोग्य है

३३६—(१)—कितेक लोग ऐसा मान रहे हैं कि शुभोपयोग से अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से आत्मा को वास्तव में लाभ होता है तो वह बात मिथ्या है कारण कि वे सब व्यवहारमोक्षमार्ग को वास्तव में बहिरंग निमित्तकारण नहीं मानते परंतु उपादानकारण मानते हैं (देखो श्री रायचंद ग्रंथमाला के पंचास्तिकाय गाथा ८६ में जयसेनाचार्य की टीका) वहाँ अधर्मास्तिकाय का निमित्तकारणपना कैसे है, यह बात सिद्ध करने में कहा है कि 'शुद्धात्मस्वरूपे या स्थितिस्तस्य निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन कारणं, व्यवहारेण पुनरर्हत्सिद्धादि परमेष्ठि गुणस्मरणं च यथा, तथा जीव पुद्गलानां पुनरधर्मद्रव्यं चेति सूत्रार्थ:। **अर्थ—अथवा जैसे शुद्धात्मस्वरूप में ठहरने का कारण निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है** तथा व्यवहारनय से अरहंत, सिद्धादि पंच परमेष्ठियों का गुणों का स्मरण है, तैसे जीव पुद्गलों के ठहरने में निश्चयनय से उनका ही स्वभाव ही उपादानकारण है, व्यवहारनय से अधर्मद्रव्य है, यह सूत्र का अर्थ है।'

(२) इस कथन से सिद्ध होता है कि धर्म परिणत जीव को शुभोपयोग का निमित्तपना और गतिपूर्वक स्थिर होनेवाले को अधर्मास्ति का निमित्तपना समान है और यह बात भी जानी जाती है कि निमित्त से वास्तव में लाभ (हित) माननेवाला—निमित्त को उपादान ही मानते हैं, व्यवहार को निश्चय ही मानते हैं अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से वास्तव में लाभ मानते हैं; इसलिये वे सब

मिथ्यादृष्टि हैं; श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३७८ में कहा है कि—'यह जीव निश्चयाभास को मानैं जानैं है। परन्तु व्यवहार साधन कौं भला जानैं है, ...व्रतादिरूप शुभोपयोगरूप प्रवर्तैं है, तातैं अंतिम ग्रैवेयक पर्यंत पदकौं पावै है। परंतु संसार का ही भोक्ता रहै है।'

पंडित बनारसीदासजी का कथन

३३७—(१) **अब मूढ़ तथा ज्ञानी जीव को विशेष पणौं और भी सुनो**—ज्ञानी तो मोक्षमार्ग साधि जाने, मूढ़ मोक्षमार्ग न साधि जाणे-यातै सुनो—मूढ़ जीव आगमपद्धति को* व्यवहार कहै; अध्यात्म पद्धति को निश्चय कहै, तातै आगम अंग एकांतपनौ साधिकै मोक्षमार्ग दिखावै, अध्यात्मअंग को** व्यवहार से (भी) न जानै, यह मूढ़दृष्टि को स्वभाव, वाही याही भाँति सूझै काहेतैं?—यातैं जू-आगम-अंग बाह्य क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, ताकौ स्वरूप साधिवो सुगम। ताते (वे) बाह्यक्रिया करतौ संतौ आपकूं मूढ़ जीव मोक्ष को अधिकारी मानै, (परंतु) अंतरगर्भित अध्यात्मरूप क्रिया सौ अंतरदृष्टि ग्राह्य है, सो क्रिया मूढ़ जीव न जानै। अंतरदृष्टि के अभाव सौं अंतरक्रिया दृष्टिगोचर आवे नाहीं, तातैं मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधिवे को असमर्थ है।

(२) अथ सम्यक् दृष्टि को विचार सुनौ—

सम्यग्दृष्टि कहा (कौन) सो सुनो-संशय, विमोह, विभ्रम ए तीन भाव जामैं नाहीं सो सम्यग्दृष्टि। संशय, विमोह, विभ्रम कहा—ताको स्वरूप दृष्टांत करि दिखायतु है सो सुनो—जैसैं च्यार पुरुष काहु एकस्थान विषै ठाढ़े। तिन्ह चारि हूँ के आगे एक सीप को खंड किन्हीं और पुरुषनै आनि दिखायो। प्रत्येक तैं प्रश्न कीनौ कि यह कहा है? सीप है कै रूपौ है, प्रथम ही एक पुरुष संशैवालो बोल्यो—कछु सुध नाहीं परत, किधौं सीप है, किधौं रूपो है, मोरी दिष्टिविषैं याकौ निरधार होता नाहिं नै। भी दूजो पुरुष विमोहवालो बोल्यो कि कछु मोहि यह सुधि नाहीं कि तुम सीप कौनसौं कहतु है, रूपौ कौनसौं कहतु है, मेरी दृष्टिविषै कछु आवतु नाहीं, तातैं हम नांहिनै जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहे बोलै नाहीं गहलरूप सौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रमवालो बोल्यो कि—यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान रूपो है, याको सीप कौन कहै मेरी दृष्टिविषै तो रूपौ सुझतु है, तातैं

---

* *आगम पद्धति दो प्रकार से है—(१) भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणतिरूप-अर्थात् दया, दान, पूजा, अनुकम्पा, अव्रत तथा अणुव्रत-महाव्रत, मुनि के २८ मूलगुणों का पालनादि शुभभावोंरूप जीव के मलिन परिणाम।(२) द्रव्यरूप पुद्गल परिणाम।*

** *अंतर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति को साधना सो अध्यात्म अंग का व्यवहार है।*

सर्वथा प्रकार यह रूपौ है, सो तीनों पुरुष तौ वा सीप को स्वरूप जान्यौ नाहीं। तातै तीनों मिथ्यावादी। अब चौथौ पुरुष बोल्यो कि यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान सीप को खण्ड है, यामै कहाँ धोखो, सीप सीप सीप, निरधार सीप, याको जु कोई और वस्तु कहै सो प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रामक अथवा अंध, तैसें सम्यग्दृष्टिकौ स्वपरस्वरूपविषै न संसै है, न विमोह, न विभ्रम; यथार्थदृष्टि है, तातै सम्यग्दृष्टि जीव अंतरदृष्टि करि मोक्षपद्धति साधि जानै। **बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप[1] मानै; सो निमित्त नानारूप है, एकरूप नाहीं, अंतरदृष्टि के प्रमान मोक्षमार्ग** साधै सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरन की कनिका जागे मोक्षमार्ग सांचौ। **मोक्षमार्ग कौ साधिवो[2] यहै व्यवहार, शुद्धद्रव्य[3] अक्रियारूप सो निश्चे। ऐसैं व्यवहार कौ स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानै,** मूढ़जीव न जानै न मानै। मूढ़ जीव बंध पद्धति को साधिकरि मोक्ष कहै, **सो बात ज्ञाता मानै नाहीं। काहेतैं, यातैं जु बंध के साधते बंध सधै, मोक्ष सधै नाहीं।** ज्ञाता कदाचित् बंध पद्धति विचारै, तब जानै कि या पद्धतिसौं[4] मेरो द्रव्य अनादि को बंधरूप चल्यो आयो है—अब या पद्धतिसौं[5] मोह तोरिवो है या पद्धति को राग पूर्व की ज्यों हे नर काहे करौ ?।

छिनमात्र भी बंध पद्धतिविषै मगन होय नाहीं सो ज्ञाता अपनो स्वरूप विचारे, अनुभवै, ध्यावै, गावै, श्रवन करै, नवधाभक्ति, तप क्रिया अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होइकरि करै। यह

१- व्यवहारनय अशुद्धद्रव्य को कहनेवाला होने से जितने अलग-अलग, एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं, ऐसा वह विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है, परंतु उपादेयरूप से प्रयोजनवान नहीं है। ऐसी समझपूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव अपनी चारित्रगुण की पर्याय में आंशिक शुद्धता के साथ जो शुभअंश है, उसे बाह्यभाव और बाह्य निमित्तरूप से जानते हैं। शास्त्र में कहीं पर उस शुभ को शुद्ध पर्याय का व्यवहारनय से साधक कहा हो तो उसका अर्थ वे बाह्य निमित्तमात्र है—हेय है, ऐसा मानता है, अतः वे आश्रय करने योग्य या हितकर न मानकर बाधक ही है, ऐसा मानता है।

२- पाटनी ग्रंथमाला श्री प्रवचनसार गाथा ९४ में 'अविचलित चेतनामात्र आत्मव्यवहार है' ऐसा टीका में पृष्ठ १११-१२ में कहा है, उसे यहाँ 'मोक्षमार्ग साधिवो उसे व्यवहार' ऐसा निरूपण किया।

३- त्रैकालिक एकरूप रहनेवाला जो आत्मा का ध्रुव ज्ञायकभाव है, वह भूतार्थ-निश्चयनय का विषय होने से 'शुद्धद्रव्य अक्रियारूप' कहा गया है; उसे परमपारिणामिकभाव भी कहने में आता है और वह नित्य सामान्य द्रव्यरूप होने से निष्क्रिय है तथा क्रिया पर्याय है, इससे व्यवहारनय का विषय है।

४- यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को उसकी भूमिका के अनुसार होनेवाले शुभभाव को भी बंधपद्धति कही है। बंधमार्ग, बंध का कारण, बंध का उपाय और बंधपद्धति एकार्थ है।

५- सम्यग्दृष्टि शुभभाव को बंधपद्धति में गिनते हैं, इससे इनसे लाभ या किंचित् हित मानते नहीं, और उनका अभाव करने का पुरुषार्थ करता है; इसलिये 'यह बंधपद्धति का मोह तोड़कर स्वसन्मुख प्रवर्तन का उद्यम करते हुए शुद्धता में वृद्धि करने की सीख अपने को दे रहे हैं।

ज्ञाता को आचार, याहीं को नाम मिश्रव्यवहार।

(४) अब हेय ज्ञेय उपादेयरूप ज्ञाता की चाल ताको विचार लिख्यते

हेय-त्यागरूप तौ अपने द्रव्य की अशुद्धता, ज्ञेय-विचाररूप अन्य षट्द्रव्यको स्वरूप-**उपादेय आचरनरूप अपने द्रव्य की शुद्धता, ताको व्योरौ-गुणस्थानक प्रमान हेय ज्ञेय उपादेयरूप शक्ति ज्ञाता की होय। ज्यों-ज्यों ज्ञाता की हेय ज्ञेय उपादेयरूप वर्धमान होय त्यों-त्यों गुनस्थानक की बढ़वारी कही है, गुणस्थानक प्रवान ज्ञान, गुणस्थानक प्रमान क्रिया।** तामैं विशेष इतनौ जु एक गुणस्थानकवर्ती अनेक जीव होहिं तौ अनेकरूप को ज्ञान कहिए, अनेकरूप ही क्रिया कहिए। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रवान करि एकता मिले नाहीं। एक-एक जीवद्रव्य विषैं अन्य-अन्यरूप औदयिकभाव होंहि, तिन औदयिकभाव अनुसारी ज्ञान की अन्य-अन्यता जाननी। **परंतु विशेष इतनो जु कोऊ जाति को ज्ञान ऐसो न होइ जु परसत्तावलंबकशीली होइ करि मोक्षमार्ग साक्षात् कहे, काहे तैं अवस्था प्रवान** (कारण कि अवस्था के प्रमान में) **परसत्तावलंबक है। वे ज्ञान को परसत्तावलंबी परमार्थता न कहे, जो ज्ञान हो, सो स्वसत्तावलंबनशीली होय ताके नाऊ ज्ञान। ता ज्ञान (उस ज्ञान) को सहकारभूत, निमित्तरूप नाना प्रकार के औदयिकभाव होंहि तीन्ह औदयिकभावों को ज्ञाता तमासगीर, न कर्त्ता न भोक्ता, न अवलंबी; तातैं कोऊ यों कहै कि या भाँति के औदयिकभाव होहि सर्वथा, तौ फलानों गुणस्थानक कहिए सो झूठो। तिनि द्रव्य कौ स्वरूप सर्वथा प्रकार जान्यौ नाहीं।** काहेतैं-यातैं जु और गुणस्थानककन की कौन बात चलावै, केवलिके भी औदयिकभावनिकी नानात्वात (अनेक प्रकारता) जाननी। केवली के भी औदयिकभाव एक से होय नाहीं। काहू केवलि कों दण्ड कपाटरूप क्रिया उदय होय, काहू केवलिकौं नाहीं। तौं केवलिविषैं भी उदय की नानात्वता है तौ और गुणस्थानक की कौन बात चलावै। तातैं औदयिक[१] भाव के भरोसे ज्ञान नाहीं ज्ञान स्वशक्ति प्रधान है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति, ज्ञायक प्रमान ज्ञान, स्वरूपाचरनरूप चारित्र, यथानुभव प्रमान यह ज्ञाता को सामर्थ्य पनौ।

(५) इन बातन को व्यौरो कहां तांई लिखिये कहां तांई कहिये। वचनातीत इन्द्रियातीत ज्ञानातीत, तातैं यह विचार बहुत कहा लिखहि। जो ज्ञाता होइगो सो थोरी ही लिख्यो बहुत करि समुझैगो, जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगा नहीं; यह—वचनिका यथा

१- यहाँ सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को औदयिकभाव कहा है और वह औदयिकभाव से संवर निर्जरा नहीं परन्तु बंध होता है।

का यथा सुमति प्रवान केवलिवचनानुसारी है। जो याहि सुणेगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है, भाग्य-प्रमाण। इति परमार्थ वचनिका।

पद्मनंदी पञ्चविंशतिः

३३८—(१) निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष व्यवहार मोक्षमार्ग से बंध (अध्याय १, गाथा ८१, पृष्ठ ३४)

दृष्टिर्निर्णीतिरात्मा ह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः
शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्बन्धविध्वंसकारि।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि परंस्याच्छुभो वा शुभो वा
बन्धः संसारमेवं श्रुतनिपुणधियः साधवस्तं वदन्ति॥८१॥

संस्कृत टीका

आत्माह्यविशदमहसि निर्णीतिः दृष्टिः निर्णयं दर्शनं भवति। अत्र आत्मनि बोधः प्रबोधः ज्ञानं भवति। अत्र आत्मनि स्थितिः शुद्धं चारित्रं भवति। इति त्रितयमपि। युगपत् बन्ध विध्वंसकारि कर्म-बंधस्फेटकम्। त्रितयं बाह्यं रत्नत्रयं, **व्यवहाररत्नत्रयं बाह्यार्थ सूचकं जानीहि। पुनः बाह्यं रत्नत्रयं परं वा शुभो वा अशुभो वा बन्धः स्याद्भवेत्। श्रुतनिपुणधियः मुनयः बाह्यार्थ संसारम् एवं वदन्ति कथयन्ति॥८१॥**

हिन्दी अर्थ

आत्मा नामक निर्मल तेज के निर्णय करने अर्थात् अपने शुद्धआत्मरूप में रुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। उसी आत्मस्वरूप के ज्ञान को समयग्ज्ञान कहा जाता है। इसी आत्मस्वरूप में लीन होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीनों एक साथ उत्पन्न होकर बंध का विनाश करते हैं। **बाह्य रत्नत्रय केवल बाह्य पदार्थों (जीवाजीवादि) को ही विषय करता है और उससे शुभ अथवा अशुभ कर्म का बंध होता है, जो संसार परिभ्रमण का ही कारण है। इस प्रकार आगम के जानकार साधुजन निरूपण करते हैं।**

(२) अ०४, एकत्व सप्ततिः गाथा

केनापि हि परेण स्यात्संबन्धो बन्ध कारणम्।
परैकत्वपदे शान्ते मुक्तये स्थितिरात्मनः॥२५॥

संस्कृत टीका

हि यतः। **केनापि परेण परवस्तुना सह संबंधः कर्मबन्धकारणम्।** स्याद्भवेत। पर-श्रेष्ठ-

एकत्वपदे शान्ते आत्मनः स्थितिः। मुक्तये मोक्षाय भवति ॥२५॥

हिन्दी अर्थ

किसी भी पर पदार्थ से जो संबंध होता है, वह बंध का कारण होता है, किंतु शांत व उत्कृष्ट एकत्व पद में जो आत्मा की स्थिति होती है, वह मुक्ति का कारण होती है।

(३) अ०४ एकत्वसप्ततिः गाथा ३२; **व्यवहार संसार है।**

निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम्। **द्वितीयेन कृतं द्वैतं संसृतिर्व्यवहारतः ॥३२॥**

संस्कृत टीका

निश्चयेन तत् एकत्वम् अद्वैतम्। परम् उत्कृष्टम्। अमृतम् अस्ति। द्वितीयेन कर्मणा। कृतम् द्वैतम् **अस्ति व्यवहारतः संसृतिः संसारः ॥३२॥**

हिन्दी अर्थ

निश्चय से जो वह एकत्व है, वही अद्वैत है जो कि उत्कृष्ट अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है। किंतु दूसरे (कर्म या शरीर आदि) के निमित्त से जो **जो द्वैतभाव उदित होता है, वह व्यवहार की अपेक्षा रखने से संसार का कारण होता है ॥३२॥**

गाथा

(४) **मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पन्था न चापरः।**
आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥४६॥ अध्याय-४

संस्कृत टीका

मुमुक्षूणां मुक्तिवांछकानां मुनिनाम्। तदेव एकं ज्योतिः। मुक्तेः मोक्षस्य। पन्था मार्गः वर्तते। च पुनः। अपरः मार्गः न अस्ति। च पुनः। तद्विहाय चैतन्यं विहाय त्यक्त्वा। अन्यत्र स्थाने। आनंदः अपि। न विभाव्यते न कथ्यते ॥४६॥

हिन्दी अर्थ

मोक्षाभिलाषी जनों के लिये मोक्ष का मार्ग वही एक आत्म-ज्योति है, दूसरा नहीं है। उसको छोड़कर किसी दूसरे स्थान में आनंद की भी संभावना नहीं है ॥४६॥

(५) (अध्याय ४, गाथा २८, पृष्ठ ११६ शुभाशुभभाव निशाचर)

गाथा

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ।
रागद्वेषपरित्याग-महामन्त्रेण कीलितौ ॥२८॥

संस्कृत टीका

शुभाशुभनिशाचरौ पुण्यपापरक्षसौ द्वौ। मे किं परिष्यतः। किंलक्षणौ पुण्यपापराक्षसौ रागद्वेषपरित्यागमहामन्त्रेण कीलितौ ॥२८॥

हिन्दी अर्थ

जिन पुण्य और पापरूप दोनों दुष्ट राक्षसों को राग-द्वेष के परित्यागरूप महामंत्र के द्वारा कीलित किया जा चुका है, वे अब मेरा (आत्मा का) क्या कर सकेंगे ? अर्थात् वे कुछ भी हानि नहीं कर सकेंगे। विशेषार्थ—जो पुण्य और पापरूप कर्म प्राणी को अनेक प्रकार का कष्ट (परतंत्र्य आदि) दिया करते हैं, उनका बंध राग और द्वेष के निमित्त से ही होता है। अतएव उक्त राग-द्वेष का परित्याग कर देने से उनका बंध स्वयमेव रुक जाता है और इसप्रकार से आत्मा स्वतंत्र हो जाता है ॥२८॥

३३९—श्री धवल पुस्तक १३, पृष्ठ ७१ अपायविचयधर्मध्यान

(१) अथवा जिनमत को प्राप्त कर कल्याण करनेवाले जो उपाय हैं, उनका चिन्तवन करता है। अथवा जीवों के जो **शुभाशुभभाव होता है, उनसे अपाय का चिन्तवन करता है ॥४०॥**

(२) देखिये—जो शुभभाव कल्याणकारी हो तो धर्मी जीव उसके नाश का चिन्तवन क्यों करे ? कभी न करे, मात्र अशुभभाव के ही नाश का चिन्तवन करे; इससे सिद्ध हुआ कि सब सम्यग्दृष्टि जीवों के शुभभाव हेय हैं, चारित्रमोह का राग से जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक बंध तो होता ही है। **जब तक राग रहता है, तब तक सम्यग्दृष्टि अपनी निंदा-गर्हा करता ही है।** देखो, समयसार कलश १३७ का भवार्थ—

(३) श्री जयसेनाचार्य इस विषय में स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि (देखो श्री समयसार संस्कृत टीका)

'इति सम्यक्त्वादि जीव गुणा मुक्ति कारण, तद्गुण परिणतो वा जीवो मुक्ति कारणं भवति; तस्मात् शुद्ध जीवाद्भिन्नं **शुभाशुभ मनोवचनकाय व्यापाररूपं,** तद्व्यापारेणोपार्जितं वा **शुभाशुभ कर्म मोक्षकारणं न भवतीति मत्वाहेयं त्याज्यमिति** व्याख्यान मुख्यत्वेन गाथा नवकं गतं गाथा १६१-१६२-१६३'

३४०—इससे सिद्ध हुआ कि शुभाशुभभावों (जिसको भगवान पद्मनन्दीआचार्य क्रूर शुभाशुभ निशाचरों कहते हैं उसको) तथा उसके निमित्त से जो कर्म बंध होता है, वे सब हेय-

त्याज्य हैं। श्री धवल तथा श्री समयसार दोनों एक आवाज से शुभभाव हेय हैं, त्याज्य हैं–ऐसा स्पष्ट पुकार कर कहते हैं–जो अपना कल्याण चाहते हैं, वे यह वस्तुस्वरूप यथार्थ समझ जायेंगे।

३४१—(१)प्रश्न ३ [अ] चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ गुणस्थान धर्मरूप भी है या नहीं ?

(ब) शुभ परिणति धर्मरूप है या अधर्मरूप है ?

(क) शुभ परिणति से कर्म संवर और कर्म निर्जरा होती है या नहीं ?

(ड) पुण्य किस अवस्था में किस व्यक्ति को त्याज्य है ?

(ई) असंयत सम्यग्दृष्टि को पुण्य हेय है या उपादेय है ?

उत्तर—यह सब प्रश्न मुख्यरूप से चरणानुयोग के हैं। चरणानुयोग के उपदेश को यथावत् जो न पहिचाने तो जीव अन्यथा मानकर विपरीत प्रवर्तन करता है, इसलिये चरणानुयोग के प्रयोजन का स्वरूप संक्षेप में निम्नप्रकार बताने में आता है।

सर्वदेश और एकदेश वीतरागपना प्रगटे, तब कितना रागरूप विकार रहता है, वह बताते हैं।

(मोक्षमार्गप्रकाशक तीसरी आवृत्ति पृष्ठ ३९७) में लिखा है कि जो जीव तत्त्व के ज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उनको यह सब आचरण अपने वीतरागभाव के अनुसार ही भासित होते हैं कि **एकदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा और सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी मुनिदशा होती है क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है।** ऐसा जानकर तथा श्रावक व मुनिधर्म को विशेषरूप से पहिचानकर **अपने वीतराग भावों के अनुसार अपने योग्य धर्म का साधन करता है।**

वीतरागी अंश कार्यकारी, राग अंश हेय।

वहाँ जितना अंश वीतरागता का हो, उतना कार्यकारी समझता है और जितने अंशों में राग रहता है, उसे हेय जानता है। संपूर्ण वीतरागता को ही परम धर्म मानता है, यह चरणानुयोग का प्रयोजन है।

(२) देखिये, यहाँ क्या कहने में आया है ? श्रावक को एकदेश वीतरागता है और दूसरा अंश राग है, **वीतरागता को ही वह कार्यकारी जानता है, राग को वह हेय ही मानता है। शुभ परिणति राग है, वीतरागता नहीं है।** इसके संबंध में निम्न आधार है।

(३) श्री प्रवचनसार के ज्ञेय अधिकार गाथा १५६ में लिखा है कि 'जीव को परद्रव्य के

संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है। और वह विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण **शुभ और अशुभरूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ, जो पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है, ऐसा जो परद्रव्य उसके संयोग के कारणरूप काम करता है।** (उपराग मन्दकषायरूप और तीव्र कषायरूप से दो प्रकार का है, इसलिये अशुद्ध उपयोग भी शुभशुभ के भेद से दो प्रकार का है। उसमें से शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है और अशुभोपयोग पापरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है।) **किंतु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है,** तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है; **और वह परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।** (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं है।)'

(४) गाथा १५७ में कहते हैं कि 'विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से **शुभ उपराग का ग्रहण करने से, जो (उपयोग)** परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर अरहंत की, सिद्ध की और साधु की **श्रद्धा करने में तथा समस्त जीव समूह की अनुकम्पा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है।**'

(५) देखिये गाथा १५७ में सम्यग्दृष्टि जीव की शुभ परिणति का कथन है। प्रश्नकार ने शुभ परिणति का प्रश्न ३, (ब क) में पूछा है। उसमें मिथ्यादृष्टि के शुभ परिणाम को भी लेना चाहते हैं, ऐसा मालूम पड़ता है, क्योंकि उसमें सम्यग्दृष्टि की शुभ परिणति ऐसा शुद्ध प्रयोग नहीं किया है, किंतु शुभ परिणति सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को लागू पड़े, ऐसा प्रश्न में कहा है, किंतु हमने सिर्फ सम्यग्दृष्टि की शुभपरिणति को ध्यान में रखकर ऊपर कथन किया है। मूल गाथा १५७ पढ़ने में मालूम होगा कि देव और गुरुओं की श्रद्धा करता है, जिनेन्द्र को जानता है और जीवों के प्रति अनुकंपायुक्त है, (इसको संक्षेप में व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहते हैं।) इन तीनों को यहाँ शुभ उपयोग (शुभपरिणति) कहा है। मूल गाथा में पहला शब्द 'जाणादि', दूसरा शब्द 'पेच्छदि', तीसरा शब्द 'साणुकंपो' कहा है। और पंडित हेमराजजी ने इनका हिन्दी अर्थ पृष्ठ २१९ में व्यवहार श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों को शुभोपयोग किया है।

(६) श्री जयसेनाचार्य ने गाथा १५६ में शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीनों की व्याख्या दी है, और गाथा १५७ में शुभोपयोग की व्याख्या दी है; ये दो गाथाएँ बहुत पढ़ने योग्य हैं। (इसलिये अवश्य पढ़ना।)

(७) श्री प्रवचनसार ज्ञान अधिकार पृष्ठ ८७, गाथा ७७ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने निम्नप्रकार

कहा है कि—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

अन्वयार्थः—इसप्रकार पुण्य और पाप में अंतर नहीं है, ऐसा **जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।**

पुण्य अनात्म धर्म है; आत्मा का धर्म नहीं है।

टीकाः—यों पूर्वोक्त प्रकार से, शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भाँति और सुख-दुःख द्वैत की भाँति **परमार्थ से पुण्यपाप का द्वैत नहीं टिकता; क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मत्व अविशेष** (समान) है। [परमार्थ से जैसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग रूप द्वैत विद्यमान नहीं है, जैसे इन्द्रिय सुख और दुःखरूप द्वैत विद्यमान नहीं है, **उसीप्रकार पुण्य और पापरूप द्वैत का भी अस्तित्व नहीं है, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों आत्मा के धर्म न होने से** निश्चय से समान ही हैं।] ऐसा होने पर भी,

द्रव्यलिंगी पुण्य-पाप में अहंकारिक अंतर मानता है।

जो जीव उन दोनों में-सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति-**अहंकारिक अंतर मानता हुआ** अहमिन्द्रपदादि संपदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यंत निर्भररूप से (गाढ़रूप से) अवलंबित है, वह जीव वास्तव में, चित्तभूमि के उपरक्त होने से (चित्त की भूमि कर्मोपाधि के निमित्त से रंगी हुई-मलिन-विकृत होने से) **जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ,** संसार पर्यंत (जब तक इस संसार का अस्तित्व है, तब तक अर्थात् सदा के लिये) शारीरिक दुःख का ही अनुभव करता है।

(८) देखिये—[अ] इस टीका में **पुण्य और पाप दोनों को अनात्म धर्म कहा है।**

(ब) मिथ्यादृष्टि **धर्म-अनुराग से लाभ (संवर-निर्जरा) मानता है, सम्यग्दृष्टि इससे विरुद्ध मानता है, इस बात को इस गाथा में स्पष्ट किया है।** इसके बाद गाथा ७८ को सूचनिका में **आचार्यदेव शुभ और अशुभ की अविशेषता अपने ज्ञान में अवधारित करते हैं,** और इसकी टीका में लिखते हैं कि '**जो जीव शुभ और अशुभ भावों के अविशेष दर्शन से** (समानता की श्रद्धा से) **वस्तुस्वरूप को सम्यक् प्रकार से** जानता है, स्व और पर ऐसे दो विभागों में रहनेवाली समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों के प्रति राग-द्वेष को **निरवशेषरूप से छोड़ता है।** वह जीव, एकांत से उपयोगविशुद्ध (सर्वथा शुद्धोपयोगी) होने से जिसने परद्रव्य का आलंबन छोड़ दिया है, ऐसा

वर्तता हुआ—लोहे के गोले में से लोहे के सार का अनुसरण न करनेवाली अग्नि की भाँति—प्रचंड घन के आघात समान शारीरिक दु:ख का क्षय करता है। (जैसे अग्नि लोहे के तप्त गोले में से लोहे के सत्त्व को धारण नहीं करती, इसलिये अग्नि पर प्रचंड घन के प्रहार नहीं होते, **इसीप्रकार परद्रव्य का आलंबन न करनेवाले आत्मा को शारीरिक दु:ख का वेदन नहीं होता) इसलिये यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है।** अत: धर्मी जीव शुद्धोपयोग को अपना शरण मानते हैं।

(९) तथा गाथा ७९ की सूचनिका तथा टीका में कहते हैं कि—**सर्व सावद्ययोग को छोड़कर चारित्र अंगीकार किया हो तो भी यदि मैं शुभोपयोग की परिणति के वश होकर मोहादिक का उन्मूलन न करूँ तो मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति** कहाँ से होगी? इसप्रकार विचार करके मोहादिक के उन्मूलन के प्रति सर्व उद्यमपूर्वक कटिबद्ध होता है।

अज्ञानी शुभभाव से धर्म मानते हैं, इसलिये वे ठगा जाते हैं।

गाथा ७९ की टीका पृष्ठ ८९ में लिखते हैं कि, 'जो (जीव) समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप परम सामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी **धूर्त अभिसारिका (नायिका की) की भाँति शुभोपयोग परिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ** (शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फँसता हुआ) **मोह की सेना के वश-वर्तिता को दूर नहीं कर** डालता—जिसको महा दु:ख संकट निकट है **वह—शुद्ध आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है? इसलिये मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कसी है।'**

(१०) देखिये, इस गाथा में आचार्यदेव ने सम्यग्दृष्टि की शुभ परिणति को 'धूर्त वेश्या' 'अभिसारिका' कहा है। 'धर्त अभिसारिका' शब्द बड़ा गंभीर है। जो जीव शुभ परिणति को लाभदायक मानते हैं, वे इसके द्वारा ठगाये जाते हैं, ऐसा बताने के लिये शुभपरिणति को धूर्त और अभिसारिका (वेश्या) कहा है। **क्या कोई विवेकी सज्जन वेश्या को अच्छा मानेगा? कभी भी नहीं।**

(११) ८३ गाथा की सूचनिका में स्वयं आचार्यदेव कहते हैं कि मैंने चिन्तामणि रत्न प्राप्त कर लिया है, तथापि **प्रमाद चोर** विद्यमान है।

(१२) धर्मी जीव शुभपरिणति को धूर्त-वेश्या-चोर के समान मानते हैं और द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि पुण्य-पाप में अहंकारिक अंतर मानते हैं, इसलिये उनको अज्ञानी कहा है।

(१३) अज्ञानी शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार करते हैं क्योंकि **शुभपरिणति को श्रद्धा में**

अच्छा-उपादेय मानते हैं, हेय नहीं मानते हैं। वास्तव में धर्मी जीव शुभभाव को रागरूप होने से श्रद्धा में हेय जानते हैं। चरणानुयोग का प्रयोजन यह है कि मात्र वीतरागता को ही कार्यकारी जानना व **जितने अंश में राग रहता है, उसको श्रावक और मुनि हेय ही जानते हैं।**

(१४) याद रखने की बात यह है कि **श्रावक को एक-देश वीतरागता के साथ शुभभाव का जो अंश है, उसको निमित्त कहते हैं और उसको हेय कहा है,** क्योंकि वह बंध का कारण है।

(१५) इस विषय में श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय जो कि श्रावक का चरणानुयोग का शास्त्र है, उसमें २१२-१३-१४ की गाथाओं में कहा है कि,

येनांशेन सुदृष्टि स्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥२१३॥
येनांशेन चारितं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥२१४॥

अर्थ—जिस अंश से यह जीव सम्यग्दृष्टि है, उस अंश से इसको बंधन नहीं है। **किंतु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बंधन है॥२१२॥**

जिस अंश से यह जीव ज्ञान है, उस अंश से इसको बंधन नहीं है, **किंतु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बंधन है॥२१३॥**

जिस अंश से यह जीव चारित्र है, उस अंश से इसके बंधन नहीं है, **किंतु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बंधन ही है।**

इन श्लोकों में सम्यग्दृष्टि के 'राग के अंश को' बंधन कहा है, शुभोपयोग के एक अंश को भी अबंधन नहीं कहा है। किंतु वीतरागभाव को ही अबंध कहकर अनेकांत स्वरूप बताया है।

(१६) श्री योगसार में आचार्य श्री योगीन्द्रदेव श्लोक ७१, व ७२ में पुण्य के विषय में क्या कहते हैं, यह देखिए—

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इको वि मुणेई।
जो पुण्णु वि पाउ वि मणई सो बुह ? कोवि हवेई॥७१॥
जह लोहम्मिय णियउ बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।
जे सुहु असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि॥७२॥

अर्थ—जो पाप है, उसको जो पाप जानता है, वह तो सब कोई जानता है। **परंतु जो पुण्य को भी पाप कहता है, ऐसा पंडित कोई विरला ही होता है ॥७१॥**

हे जीव! जैसे लोहे की सांकल को तू सांकल समझता है; उसी तरह तू सोने की सांकल को भी सांकल ही समझ। जो शुभ-अशुभ दोनों भावों का परित्याग कर देते हैं, **निश्चय से वे ही ज्ञानी होते हैं ॥७२॥**

मूल गाथा में 'बुह' शब्द आया है इसका अर्थ 'पंडित' होता है।

(१७) समयसार कलश २४२ में कहा है—

व्यवहार विमूढ़दृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुष बोध विमुग्ध बुद्धयः कलयंतीह तूषं न तंडुलम्॥२४२॥

अर्थ—जिनकी दृष्टि (-बुद्धि) **व्यवहार में ही मोहित है, ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते, जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है** (मोह को प्राप्त हुई है) **ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तंदुल (चावल) को नहीं जानते।**

भावार्थः—जो धान के छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हीं को कूटते रहते हैं, उन्होंने चावलों को जाना ही नहीं; इसीप्रकार जो द्रव्यलिंगी आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादि की क्रिया में ममत्व किया करते हैं) उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थ को जाना ही नहीं है, अर्थात् ऐसे जीव, शरीरादि परद्रव्य को ही आत्मा जानते हैं। वे परमार्थ आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते ॥२४२॥

देखिये, व्यवहार से लाभ माननेवाले जीव को वहाँ 'व्यवहार में मुग्ध' कहा है। यहाँ व्यवहार धर्म को तुष कहा है और निश्चय धर्म को चावल कहा है।

(१८) मोक्षमार्गप्रकाशक ५ वाँ अध्याय, पृष्ठ १३२ में श्वेताम्बर मत की क्या भूल है यह बताते हुए लिखते हैं कि '**इसी तरह व्रतादिरूप शुभउपयोग से ही देवगति का बंध मानते हैं और इसी को मोक्षमार्ग मानते हैं। इस तरह बंधमार्ग को और मोक्षमार्ग को जो एक कर दिया है, वह मिथ्या है।**' देखिये श्वेताम्बर लोग शुभ उपयोग को पुण्यबंध का कारण और संवर-निर्जरा दोनों का कारण मानते हैं, और अब दिगम्बर धर्मानुयायी भी ऐसा ही मानने लगें तो वे दिगम्बर धर्म के अनुयायी कैसे कहला सकते हैं? कभी भी नहीं?

(१९) अज्ञानी संवरतत्त्व की श्रद्धा में क्या भूल करते हैं, यह मोक्षमार्गप्रकाशक सातवाँ

अध्याय पृष्ठ ३३४ में लिखा है कि—'संवरतत्त्व में भी अहिंसादिरूप शुभास्रव के कारण भावों को संवर जानता है, परन्तु **एक कारण से पुण्य बंध और संवर मानना ठीक नहीं।**'

प्रश्नः—'मुनियों के एक ही समय में ये भाव होते हैं, वहाँ उनके बंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो कैसे ?

उत्तरः—'**वह भाव मिश्ररूप है, कुछ वीतरागरूप है, कुछ सरागरूप है; वीतराग अंशों से संवर होता है और सराग अंशों से बंध होता है,** मिश्रभाव से तो दो कार्य बनते हैं परंतु **एक प्रशस्त राग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना भ्रम है। मिश्रभाव में भी यह सरागता है और यह वीतरागता है, ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि के ही होती है, इसलिये वह अवशेष राग को हेयरूप श्रद्धान करता है;** मिथ्यादृष्टि को ऐसी पहिचान नहीं होती, इसलिये **वह सराग भाव में संवर के भ्रम से प्रशस्त रागरूप कार्यों को उपादेय समझता है।**' (मोक्षमार्गप्रकाशक का यह अभिप्राय पुरुषार्थसिद्धि-उपाय गाथा २१२, २१३, २१४ विशेषतः २१४ गाथा के अनुसार है।) सिद्धांत में (गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र) इनसे संवर होना बतलाया है, इनका भी वह यथार्थ श्रद्धान नहीं करता।

चारित्र—हिंसादि सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानता है उसमें महाव्रतादिरूप शुभोपयोग को उपादेयपने से ग्रहण करता है, लेकिन तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुये महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है, अतः यह उपादेय कैसे हो सकते हैं ? आस्रव तो बंध का ही साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है; इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रव भावों को चारित्रपना संभव नहीं है। सकल कषायरहित उदासीन भाव का नाम चारित्र है। चारित्रमोह के देशघाती स्पर्धकों के उदय से जो महामंद प्रशस्त राग होता है, वह चारित्र का मल है। इसको छूटता हुआ न जानकर इसका तो त्याग नहीं करता, केवल सावद्ययोग का ही त्याग करता है। परंतु जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि बहुत दोषवाले हरितकाय का त्याग करता है और कोई हरितकाय को खाते हैं परंतु उसको धर्म नहीं मानते। **वैसे ही मुनि, हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करते हैं और कोई मंदकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं; परंतु उसको मोक्षमार्ग नहीं मानते।**' देखिये—यहाँ पर भी मुनि को महाव्रत व श्रावक को अणुव्रत पाँचवें छट्ठे गुणस्थान में आते तो हैं परंतु ज्ञानी जीव उसे हेय मानते हैं। 'बाह्य व्रतादिक हैं, सो तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रय हैं; परद्रव्य का आप कर्ता नाहीं। तातैं तिसविषैं कर्तृत्व-ममत्व भी न करना, और व्रतादिक विषैं

ग्रहण त्यागरूप अपना शुभोपयोग होय सो अपने आश्रय है' अर्थात् व्रतादिक के भाव पुद्गल की पर्याय नहीं है किंतु जीव का विभावभाव है। (मोक्षमार्गप्रकाशक देहली से प्र० पृ० ३७५)

(२०) मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३४० में कहा है कि—'अल्प शुद्धता होने पर भी थोड़ी शुद्धता का अंश भी रहता है तो **जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है और जितना शुभभाव है, उससे बंध है।** इस तरह जहाँ मिश्रभाव है, वहाँ बंध और निर्जरा दोनों होते हैं।' देखिये—यहाँ ऐसा कहा है कि चौथे, पाँचवें गुणस्थान में **जितना कषाय का अभाव है, उतनी-उतनी निर्जरा है; दया, दान, पूजा का शुभभाव है, वह बंध का कारण है। अणुव्रत का भाव शुभभाव है, इसलिये बंध का ही कारण है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में अपनी भूमिकानुसार शुद्धता के कारणभूत संवर, निर्जरा होती है और शुभभाव से बंध होता है।**

(२१) मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३७६ में कहा है '**किसी की मान्यता ऐसी भी है कि शुभोपयोग, शुद्धोपयोग का कारण है। लेकिन जैसे अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, वैसे ही शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है। यदि इसप्रकार कार्य-कारणपना माना जायेगा तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग हो जायेगा।** अथवा द्रव्यलिंगी के **शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है किंतु शुद्धोपयोग नहीं होता। इसलिये परमार्थतः इनमें कार्य-कारणपना नहीं है।** जैसे रोगी के पहिले बहुत रोग था, फिर कम रोग हुआ तो वह कम रोग निरोग होने का कारण नहीं है किंतु कम रोग होने पर यदि निरोग होने का उपाय करता है तो निरोग हो जाता है। किंतु अगर कम रोग को ही **अच्छा समझकर उसको रखने का यत्न करे तो वह निरोग कैसे होगा?** उसीप्रकार **कषायी के तीव्र कषायरूप अशुभोपयोग था, पीछे मंद कषायरूप शुभोपयोग हुआ तो वह शुभोपयोग था, शुद्धोपयोग होने का कारण नहीं हैं।** इतना है कि—**शुभोपयोग होने पर यदि शुद्धोपयोग का यत्न करता है तो वह हो जाता है। किंतु अगर शुभोपयोग को ही भला जानकर उसका साधन करता रहेगा तो शुद्धोपयोग कैसे होगा?** इसलिये मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर **निकट भविष्य में शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है। इस मुख्यता से कहीं शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण भी कह दिया है।** ऐसा समझना चाहिये।'

(२२) मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४६८ में लिखा है कि कहीं पुण्य-पापसहित नौ पदार्थ कहे हैं किंतु **पुण्य-पाप, आस्रव आदि के ही विशेष हैं।** अतः सात तत्त्वों में ही गर्भित होते हैं। अथवा

पुण्य-पाप का श्रद्धान होने पर पुण्य को मोक्षमार्ग न जाने अथवा स्वच्छंद हो पापरूप प्रवृत्ति न करे, इसलिये मोक्षमार्ग में इनका श्रद्धान भी उपकारी जान दो तत्त्व विशेष मिलाकर नौ तत्त्व कहे।' यह सब कथन भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य की भावपाहुड़, गाथा ११८ के अनुसार है।

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो
दुविह पयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं॥११८॥ भावपाहुड़

'**अर्थः**—तिस पूर्वोक्त जिनवचन का श्रद्धान, मिथ्यात्वरहित सम्यग्दृष्टि जीव है सो शुभकर्म को बांधै है। कैसा है जीव? भावनिकी जो विशुद्धि ताकों प्राप्त है। **ऐसे दोऊ प्रकार दोऊ शुभाशुभ कर्म को बांधै है, यह संक्षेपकरि जिन कह्या।**'

'**भावार्थः**—पूर्वै कह्या जिन वचनतैं पराङ्मुख मिथ्यात्वसहित जीव, तिसतैं विपरीत कहिये जिन-आज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव है। सो विशुद्ध भावकूं प्राप्त भया **शुभकर्मकूं बाँधे है,** जातै याकै सम्यक्त्व के माहात्म्य करि ऐसे उज्ज्वल भाव है, ताकरि मिथ्यात्व की लार बंध होती पाप प्रकृतिनि का अभाव है, कदाचित् किंचित् कोई पाप प्रकृति बंधै है, तिनिका अनुभाग मंद होय है, कछू तीव्र पाप फल का दाता नाहीं; तातैं सम्यग्दृष्टि **शुभकर्म ही का बांधनेवाला है। ऐसे शुभ-अशुभ कर्म के बंध का संक्षेपकरि विधान सर्वज्ञ देवनै कह्या है, सो जानना॥११८॥**

देखिये इन सब आधारों से सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि को अपने-अपने गुणस्थान अनुसार शुभभाव होते हैं; येही कर्म के बांधनेवाले हैं, इनसे संवर, निर्जरा अंश मात्र भी नहीं होती। ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने संक्षेप में कहा है।

(२३) मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४५७ में लिखा है कि—

प्रश्न—द्रव्यलिंगी मुनि मोक्ष के लिये गृहस्थपना छोड़कर तपश्चरणादि करता है, वहाँ उसने पुरुषार्थ तो किया तो भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ, इसलिये पुरुषार्थ करने से कुछ सिद्धि नहीं।

उत्तर—अन्यथा पुरुषार्थ करि फल चाहै, तो कैसे सिद्ध होवे? तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी हो प्रवृत्ति करे, उसका फल तो शास्त्र में शुभ बंध कहा है और उससे मोक्ष चाहता है तो कैसे सिद्धि हो? यह तो उसका भ्रम है।''

इसके बाद वे पृष्ठ ४७० में कहते हैं कि 'जैसे द्रव्यलिंगी मुनि जिन वचन से तत्त्वों की प्रतीति करता है, **परंतु शरीरारित क्रियाओं में अहंकार अथवा पुण्यास्त्रव में उपादेयपना आदि विपरीत अभिप्राय से मिथ्यादृष्टि ही रहता है।**'

देखिये-१ व्यवहार साधन का अर्थ **शुभराग होता है, उसमें अनुरागी का अर्थ राग का राग द्रव्यलिंगी मुनि को होता है,** ऐसा कहा है।

(२४) श्री समयसार के निर्जरा अधिकार में **राग के प्रति राग है, उसको मिथ्यादृष्टि कहा है।** निर्जरा अधिकार गाथा २०१-२०२ के भावार्थ में पृष्ठ ३०९ पर लिखा है कि, '**यदि कोई जीव राग को भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो वह भले ही सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्र का पालन करता हो, तथापि यह समझना चाहिये कि उसने अपने आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जाना, कर्मोदय जनित राग को ही अच्छा मान रखा है तथा उसी से अपना मोक्ष माना है। इसप्रकार अपने और पर के परमार्थस्वरूप को न जानने से जीव-अजीव के परमार्थस्वरूप को नहीं जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव इन दो पदार्थों को ही नहीं जानता वहाँ सम्यग्दृष्टि कैसा ?** तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।'

शरीराश्रित क्रियाओं में अहंकार—इसका अर्थ यह है कि शरीर परद्रव्य है, उसकी कुछ भी क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसी जिनकी मान्यता है, उनको शरीराश्रित क्रियाओं में अहंकार है अर्थात् कर्तापना है, यह अनंतानुबंधी मान है; इसलिये द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

२—पुण्यास्रव में उपादेयपना कहो या व्यवहार साधन में अनुरागी होना कहो - एक ही बात है। **पुण्यास्रव में जो उपादेयपना मानते हैं और उसको हेय नहीं मानते, वे कभी भी आस्रव का अभाव नहीं कर सकते क्योंकि राग में वीतरागता प्रगट करने की सामर्थ्यता बिल्कुल नहीं है किंतु अपनी आत्मा के आश्रय में ही वीतरागता प्रगट करने का सामर्थ्य है।** (देखिये समयसार, गाथा २७२ से २७४)

व्यवहार धर्म

३४२—(चौथे गुणस्थान से) साधक के अपने-अपने गुणस्थानानुसार व्यवहार धर्म होता है, इसमें संदेह नहीं। परंतु एक तो वह बंधपर्यायरूप होने के कारण **साधक की उसमें सदाकाल हेयबुद्धि बनी रहती है।** दूसरी बात—वह राग का कर्ता न होने से **श्रद्धा में उसे आश्रय करनेयोग्य नहीं मानता।** साधक श्रद्धा में तो निश्चयनय को ही आश्रय करनेयोग्य मानता है। लेकिन वह जिस भूमिका में स्थित होता है, उसके अनुसार वर्तन करता हुआ **उस काल में व्यवहार धर्म का जानना व्यवहारनय से प्रयोजनवान मानता है।** (देखो, श्री समयसार, गाथा १२ की टीका)

३४३—अनुत्कृष्ट (मध्यम) भाव जो अनुभव करता है, उस साधक जीव के परिपूर्ण

शुद्धनय (केवलज्ञान) की प्राप्ति न होने तक **श्रद्धा में स्वभावदृष्टि की ही मुख्यता रहती है। वह भूलकर भी व्यवहारदृष्टि को उपादेय नहीं मानता। व्यवहारधर्मरूप प्रवृत्ति होना अन्य बात है, और व्यवहार धर्म को आत्मकार्य या मोक्षमार्ग मानना अन्य बात है।** सम्यग्दृष्टि तो स्वभाव दृष्टि की प्राप्ति और उसमें स्थिति को ही मोक्षमार्ग समझता है। यदि उसकी यह दृष्टि न रहे तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं हो सकता।

३४४—सम्यग्यदृष्टि के व्यवहारनय का ज्ञान करने के लिये यथापदवी प्रयोजनवान होने पर भी वह मोक्षमार्ग की सिद्धि में रंचमात्र भी आश्रयकारक नहीं है। आचार्यों ने जहाँ भी व्यवहार दृष्टि को बंधमार्ग और स्वभावदृष्टि को मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ वह इसी अभिप्राय में कहा है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि इसप्रकार व्यवहारदृष्टि के बंधमार्ग सिद्ध हो जाने पर, न तो **सम्यग्दृष्टि के देवपूजा, गुरुपास्ति, दान और उपदेश आदि देने का भाव ही होना चाहिये** और न उसके व्यवहार धर्मरूप प्रवृत्ति ही होना चाहिये। सो उसका ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के **सवभावदृष्टि हो जाने पर भी रागरूप प्रवृत्ति होती ही नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता।** कारण कि जब तक उसके रागांश विद्यमान हैं, तब तक उसके रागरूप प्रवृत्ति भी होती रहती है और जब तक उसके रागरूप प्रवृत्ति होती रहती है, तब तक उसके फलस्वरूप देवपूजादि व्यवहार धर्म का उपदेश देने के भाव भी होते रहते हैं और उस रूप आचरण करने के भाव भी होते रहते हैं, **फिर भी वह अपनी श्रद्धा में उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता, इसलिये उसका कर्तापना नहीं होता। आगम में सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है, सो वह स्वभावदृष्टि की अपेक्षा ही कहा है; रागरूप व्यवहार धर्म की अपेक्षा से नहीं।** सम्यग्दृष्टि एक ही काल में बंधक भी है और अबंधक भी है, इस विषय को आगम में स्पष्ट किया है।

आचार्य श्री अमृतचंद्राचार्यजी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में गाथा २१२-२१३-२१४ में कहा है कि सम्यग्दृष्टि के जिस अंश से राग है, उस अंश में बंधन है और जिस अंश से वीतरागता है, उस अंश में बंधन नहीं है। [ये गाथाएँ पूर्व में देने में आयी हैं।]

(२१) जीव को निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होने पर व्यवहाररत्नत्रय होता ही है, उसे प्राप्त करने के लिये अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता, व्यवहाररत्नत्रय स्वयं धर्म नहीं है, निश्चयरत्नत्रय के सद्भाव में उसमें धर्म का आरोप होता है, इतना अवश्य है।

३४५—**प्रश्न**—श्री प्रवचनसार, पृष्ठ १० पर लिखा है कि "सिद्धांत ग्रंथों में जीव के

असंख्य परिणामों को मध्यम वर्णन से चौदह गुणस्थानरूप कहा गया है, उन गुणस्थानों को संक्षेप से 'उपयोग' रूप वर्णन करते हुए प्रथम तीन गुणस्थानों में तारतम्यपूर्वक (घटता हुआ) अशुभोपयोग; चौथे से छट्ठे गुणस्थान तक तारतम्यपूर्वक (बढ़ता हुआ) शुभोपयोग; सातवें से बारहवें गुणस्थान तक तारतम्यपूर्वक (बढ़ता हुआ) शुद्धोपयोग और अंतिम दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल कहा गया है—ऐसा वर्णन कथंचित् हो सकता है।''

इस पर से कोई तर्क करते हैं कि वहाँ ४-५-६ गुणस्थानों में शुभोपयोग लिखा है, शुद्धभाव लिखा ही नहीं, **और ४-५-६ गुणस्थानों में संवर, निर्जरा तो होती है, इसलिये शुभोपयोग से संवर-निर्जरा सिद्ध हो गई; फिर तुम ना क्यों कहते हो ?**

उत्तर:—(१) यह वर्णन मुख्यरूप से है, सर्वांशरूप से नहीं है क्योंकि पहले गुणस्थान में द्रव्यलिंगी मुनि को शुभभाव उत्कृष्ट रूप में होता है और किंचित् भी संवर-निर्जरा नहीं। मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३७७ में लिखा है कि 'द्रव्यलिंगी के शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है किंतु शुद्धोपयोग नहीं होता।' तथा मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४७० में लिखा है कि 'शरीराश्रित क्रियाओं में अहंकार अथवा पुण्यास्रव में उपादेयपना आदि विपरीत अभिप्राय से मिथ्यादृष्टि ही रहता है।'

(२) आचार्यश्री कुन्दकुन्द भगवान प्रवचनसार गाथा २५६-२५७ में मिथ्यादृष्टि को शुभभाव होते हैं, ऐसा स्पष्टरूप से बतलाते हैं। प्रवचनसार गाथा २५६ में पृष्ठ ३१० पर लिखा है कि 'छद्मस्थ स्थापित वस्तुयें वे कारण विपरीतता है; उनमें **व्रत-नियत-अध्ययन-ध्यान-दान रतरूप से युक्त शुभोपयोग का फल जो मोक्ष शून्य केवल पुण्यापसद की प्राप्ति है, वह फल की विपरीतता है; वह फल सुदेव, मनुष्यत्व है ॥२५६॥**'

(३) प्रवचनसार गाथा २५७, पृष्ठ ३११ में लिखा है कि ''शुद्धात्म परिणति को प्राप्त न करने से 'विषय कषाय में अधिक' ऐसे पुरुष हैं। उनके प्रति **शुभोपयोगात्मक जीवों को—** सेवा, उपकार या दान करनेवाले जीवों को—जो केवल पुण्यापसद की प्राप्ति है, सो वह फल विपरीतता है; वह (फल) कुदेव-मनुष्यत्व है ॥२५७॥

(४) देखिये—यहाँ अन्यमती को शुभोपयोग तो होता है और वह सदाकाल प्रथम गुणस्थान में ही रहता है तो भी उसको ऊपर कहे अनुसार उसको अशुभोपयोगी कहा है, इसलिये यह समझना चाहिये कि १-२-३ रे गुणस्थान में अशुभोपयोग होता है यह कथन मुख्यता से है, सर्वांशे नहीं। इस संबंध में शास्त्रों में कथन करने की पद्धति क्या है; यह समझना चाहिये।

(५) श्री समयसार गाथा २००, पृष्ठ ३०७ में स्पष्ट किया है कि, 'यहाँ कोई पूछता है कि व्रत, समिति शुभकार्य है तो उसका पालन करते हुए भी जीव को पापी क्यों कहा गया है ?

उसका समाधान यह है—'**सिद्धांत में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है, जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है।** और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को **अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने को शुभक्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है,** ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।'

४-५-६ गुणस्थान में शुभोपयोग कहा है, उसका खुलासा निम्नप्रकार है।

६- श्री प्रवचनसार में श्री जयसेनाचार्य २४८ गाथा की टीका में लिखते हैं कि, 'प्रश्न—शुभोपयोगी में भी कोई-कोई काल में शुद्धोपयोग की भावना देखने में आती है। शुद्धोपयोगी को भी कोई-कोई काल में शुभोपयोग की भावना देखने में आती है। **श्रावक को भी सामायिक आदि के काल में शुद्धभावना देखने में आती है। इनमें किस कारण से भेद जानना ? समाधान—तुमने जो कहा सो युक्त है, ऐसा होता है किंतु जिसको प्रचुररूप से शुभोपयोग वर्तता है और किसी किसी काल में शुद्धोपयोग की भावना करता है तो भी वह शुभोपयोगी कहने में आता है। और शुद्धोपयोगी को जो कि किसी**-किसी काल में शुभोपयोग वर्तता है तो भी उसे शुद्धोपयोगी ही कहने में आता है। क्या कारण है ? **बहुपद का प्रधानपद होने के कारण-आम्रवन-नीमवनवत् ऐसा समझना।**'

देखिये, ४-५-६ गुणस्थानों में शुभोपयोग कहने में आता है, वह बहुपद के प्रधानपना के कारण कहने में आता है, सर्वांशरूप से नहीं।

(७) शुभोपयोग में कुछ शुद्धता रहती है, इसलिये ४-५-६ गुणस्थानों में संवर-निर्जरा होती है, यह तर्क गलत है किंतु उसको जो हर समय आंशिक शुद्धपरिणति होती है, उससे उसको संवर-निर्जरा होती है। श्री प्रवचनसार की २४६वीं गाथा में कहा है कि मुनि को शुभोपयोग के काल में आंशिक **शुद्ध आत्मपरिणति भी होती है।**

(८) चौथे गुणस्थान में संयमरूप नहीं ऐसा (स्वरूपाचरण) चारित्र प्रगट होने से एक चौकड़ी कषाय का अभाव होने के कारण, चारित्र की अंशे शुद्धता है और तीन चौकड़ी कषायों का सद्भाव होने से चारित्र में अशुद्धता होती है। (देखो श्री धवल भाग १ पृष्ठ १६४-१६५) इसलिये चारित्र की मिश्रपर्याय चौथे गुणस्थान से शुरु होकर दसवें गुणस्थान के अंत तक मिश्रता चालू रहती

है और ११-१२ गुणस्थानों में यथाख्यात चारित्र होता है। इसलिये वहाँ राग का अंश भी नहीं है। इससे ऐसा समझना चाहिये कि चौथे गुणस्थान से संवर-निर्जरा शुद्धता के कारण और आस्रव-बंध अशुद्धता के कारण होता है। और शुद्धता क्रमक्रम बढ़ती जाती है, अशुद्धता की कमी होती चली जाती है। अर्थात् अशुद्ध भाव हटता चला जाता है, शुद्धता बढ़ती चली जाती है; इसलिये जितनी शुद्धता है, उतनी संवर-निर्जरा है और जितनी अशुद्धता है, उतना आस्रव-बंध होता है।

३४६—**प्रश्न**—जो इसप्रकार है तो जयधवला में शुभ और शुद्ध में निर्जरा होती है, ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—(१) कथन की पद्धति तीन प्रकार की होती है। १ निश्चयनय, २ व्यवहारनय, ३ प्रमाणरूप।

जयधवला का कथन प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए उपादान और निमित्त को बतलाता है। इसलिये वास्तव में शुभोपयोग से संवर-निर्जरा होती है, ऐसा नहीं है, परंतु निमित्त-उपादान का ज्ञान एक साथ कराने के लिये ऐसा कथन किया है। संवर-निर्जरा अपने शुद्ध उपादान से ही होती है, निमित्त से कभी भी नहीं होती क्योंकि निमित्त हेयतत्त्व है। प्रमाणज्ञान तब सत्य कहलाता है, **जब उसके साथ हेय-उपादेय का सच्चा ज्ञान हो।** शुभराग से संवर-निर्जरा होती है, यह व्यवहारनय का अर्थात् निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उपचार कथन है, यदि निमित्त से कार्य हो तो निमित्त निमित्त न रहकर उपादान हो जावे और **निमित्त अपना भी कार्य करे और उपादान का भी कार्य करे, ऐसा मानने में द्विक्रियावादीपने का दोष आता है, द्विक्रियावादी को समयसार में जिनमत में बाहर-मिथ्यादृष्टि कहा है।**

(२) एक उपादान का कार्य निमित्त से हुआ, वह निमित्त स्वयं उपादान होने से उसका कार्य दूसरे निमित्त ने किया और दूसरा निमित्त भी स्वयं उपादान होने से उसका कार्य तीसरे निमित्त ने किया, ऐसा मानने में **अनवस्था दोष आता है। कहीं भी थम्भाव नहीं होता।**

(३) पंचाध्यायी पंडित देवकीनंदनजी कृत टीका भाग पहला, पृष्ठ २२२, गाथा ४००-४०१-४०२ में लिखा है कि 'सत् और परिणाम के विषय में मित्र द्वैत का दृष्टांत भी **अनवस्था दोष के कारण स्वप्न के समान निरुपयोगी है, क्योंकि, यदि अपने कार्य के लिये एक को मूलकारण दूसरे को सहकारी कारण माना जाये तो उस सहकारी कारण के लिये भी किसी दूसरे सहकारी कारण की तथा उसके लिये भी किसी तीसरे कारण की, इसप्रकार उत्तरोत्तर हेतुओं के लिये**

हेतुओं की कल्पना करते-करते अनवस्था दोष आयेगा।' इसलिये जहाँ-जहाँ निमित्त से (शुभोपयोग से) पाप का संवर होता है, ऐसा कहा हो, वह सब व्यवहारनय का कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये समझना।

(४) निमित्त स्वयं उपचार होने से अनुपचार का ज्ञान कराता है। अर्थात् वह ऐसा बतलाता है कि वह कार्य मैंने नहीं किया है, उपादान ने किया है। इस संबंध में पंचाध्यायी (पंडित देवकीनंदनजी) कृत भाग दूसरा पृष्ठ १६२, गाथा ३५९-३६० में लिखा है कि 'जैसे अग्नि अगुरुद्रव्य के गंध की व्यंजक होने से स्वयं गंधस्वरूप नहीं हो जाती है, वैसे ही देह इंद्रियादिक सुख और ज्ञान के अभिव्यंजक होने से स्वयं ज्ञान तथा सुखस्वरूप नहीं हो सकते।'

(५) श्री प्रवचनसार गाथा ६७ में लिखा है कि, 'जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित होता है, वहाँ विषय क्या कर सकते हैं।' तथा श्री समयसार गाथा ३७२ में लिखा है कि 'अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती इसलिए (यहाँ सिद्धांत है कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। [श्री जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २, पृष्ठ ८३]

(६) इस संबंध में श्री मोक्षमार्गप्रकाशक (हिन्दी) जो कि श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री दिगम्बर जैन संघ, मथुरा की ओर से प्रकाशित है, उसकी प्रस्तावना के पृष्ठ ९-१० में लिखा है कि—"×××**आपने इस बात का खंडन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चयव्यवहाररूप दो प्रकार का है, वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय-व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टियों की है। वास्तव में तो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं किंतु मोक्षमार्ग निरूपण के दो प्रकार हैं। पाठक देखिये कि—जो लोग निश्चयसम्यग्दर्शन-व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयरत्नत्रय-व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग-व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि दो भेदों की दिन-रात चर्चा करते हैं, उनके मंतव्य से पंडितजी का मंतव्य कितना भिन्न है ?** इसीप्रकार आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि **निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भ्रम है, क्योंकि दोनों नयों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है; इसलिए दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चयनय उपादेय है और न केवल व्यवहारनय उपादेय है, किंतु दोनों ही उपादेय हैं किंतु पंडितजी ने उसे मिथ्यादृष्टियों की प्रवृत्ति बतलाई है।××**"

(७) देखिये, इस पर से यह सब स्पष्ट होता है कि निश्चयनय व व्यवहारनय दोनों कभी भी आत्मा का धर्म प्रगट करने के लिये आदरणीय हैं, ऐसी बात है ही नहीं, ऐसा तो मथुरा संघ के

वर्तमान पंडितजी भी स्वीकार करते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में इसी बात को दृढ़ करने के लिये और यथार्थ श्रद्धा कराने के लिये निम्नप्रकार पृष्ठ ३७१ में लिखा है कि, 'तथा परद्रव्य के निमित्त को मिटाने की अपेक्षा व्रत, शील, संयमादिक को मोक्षमार्ग बतलाया है, **किंतु इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मानना चाहिये क्योंकि यदि परद्रव्य का ग्रहण और त्याग आत्मा करता है तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जायेगा, लेकिन कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन नहीं है, इसलिये आत्मा अपने रागादिक भावों को छोड़कर वीतरागी होता है। अतः निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावों और व्रतादिकों में कदाचित् कार्य-कारण भाव पाया जाता है, इसलिये व्रतादिकों को मोक्षमार्ग कहना केवल कहना मात्र ही है; परमार्थ से बाह्य क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है। अतः ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिये।'** इतने ही विवेचन से प्रश्न का उत्तर सरल हो जाता है।

(क्रमशः)

सुवर्णपुरी-सोनगढ़ समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सबेरे पंचास्तिकाय तथा दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र में से निर्जरा अधिकार चलता है। वर्तमान में श्री धवल, जयधवला महाबंध टीका शास्त्र विशेष तत्त्वचर्चा सहित स्वाध्याय में चलता है। यात्री साधर्मीजनों के लिये नयी धर्मशाला तैयार हो रही है। जनवरी मास पूर्ण होने तक धर्मशाला का काम सम्पूर्ण हो जायेगा।

दक्षिण तीर्थयात्रा में संख्या लगभग ७५० उपरान्त होगी—

निवेदन

आगामी वैशाख सुदी २ बम्बई नगर में परमोपकारी पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की ७५वीं जन्म-जयंती महोत्सवरूप से मनाई जायेगी, उस प्रसंग पर एक अभिनंदन ग्रंथ प्रसिद्ध होगा, उस अभिनंदन ग्रंथ की संपादक समिति की ओर से निवेदन है कि - हरेक गाँव के मुमुक्षु मंडल निम्नप्रकार सामग्री शीघ्र भेज देवें।

(१) स्थानीय जिनमंदिर का फोटो (केबिनेट साइज)

(२) मूलनायक श्रीजी भगवान का फोटो नाम सहित

(३) मुमुक्षु मंडल का ग्रुप फोटो (प्रमुख का नाम)

(४) मुमुक्षु मंडल की ओर से श्रद्धांजलिरूप लेख।

इसके अलावा कोई विशेष फोटो, लेख और प्राचीन जैन ऐतिहासिक हस्तलिखित पुस्तक आदि सामग्री भेजियेगा।

राजकोट, जामनगर, गोंडल, मोरबी, बांकानेर, जेतपुर, बडीआ, सावर कुंडल, अमरेली, मोटा आंकड़िया, चोटीला, सुरेन्द्रनगर, थान, बढ़वाण शहर, जोरावरनगर, लीमड़ी, राणपुर, बोटाद, लाठी, बींछिया, उमराला गढ्ड़ा, भावनगर, सोनगढ़, कलकत्ता, जमशेदुपर, उदयपुर, अजमेर, इन्दौर, उज्जैन, भोपाल, गुना, अशोकनगर, सागर, जबलपुर, खंडवा, मलकापुर, पिंडावा, पालेज, सूरत, बड़ोदरा, अहमदाबाद, दोहद, बम्बई, रांची, खैरागढ़, जलगाँव, दिल्ली, आगरा, किशनगढ़, सनावद, ललितपुर, मद्रास, दहेगाम, रख्यिाल, फतेपुर (गुजरात) आदि भारत भर के तथा विदेश में अफ्रीका, जापान, बरमा आदि को मुमुक्षुओं को भी उपरोक्त सामग्री में से यथाशक्य शीघ्र भेजने की प्रार्थना है। कारण कि अल्प समय में ही ग्रंथ छपना प्रारम्भ होगा।

भेजने का पता—

श्री कानजी स्वामी अभिनंदन-ग्रंथ समिति

दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल

१७३-७५ मुम्बादेवी रोड

बम्बई नं० २

पूज्य श्री कानजी स्वामी दिगम्बर जैन तीर्थयात्रा संघ

(सुधार किया कार्यक्रम)

[पूज्य स्वामीजी सोनगढ़ से तारीख ५-१-६४ के दिन प्रस्थान करेंगे। और यात्रीसंघ बम्बई से तारीख १०-१-६४ के दिन प्रस्थान करके उसी दिन पूना में पूज्य स्वामीजी के साथ हो जायेगा। वहाँ से पौन्नूर तक पूरा संघ साथ में रहेगा।]

क्रमांक	ग्राम	मील	तिथि	तारीख	वार	दिन
सोनगढ़ से मंगल प्रस्थान			माघ बदी	६	५-१-६४	रवि
१	अहमदाबाद	१२१	माघ बदी	६	५-१-६४	रवि १
२	पालेज	१०१	'' ''	७	६-१-६४	सोम २
			'' ''	८	७-१-६४	मंगल
३	वलसाड	१०४	'' ''	९	८-१-६४	बुध १
४	भीवंडी	११०	'' ''	१०	९-१-६४	गुरु १
५	पूना	९९	'' ''	११	१०-१-६४	शुक्र १
६	सतारा	६९	'' ''	१२	११-१-६४	शनि १
७	बाहुबली (कुंभोज कोल्हापुर)	८०	'' ''	१३	१२-१-६४	रवि १
८	बेलगाग	९३	'' ''	१४	१३-१-६४	सोम १
९	हुबली	५९	'' ''	अमावस	१४-१-६४	मंगल १
१०	दावनगिरि	८९	माघ सुदी	१	१५-१-६४	बुध १
११	हुमचा (हरिहर होकर)	८३	'' ''	२	१६-१-६४	गुरु १
१२	कुन्दाद्रि (कुंदगिरि)	३३	'' ''	३	१७-१-६४	शुक्र १
१३	मूडबद्री	५३	'' ''	४	१८-१-६४	शनि
			'' ''	५	१९-१-६४	रवि २
१४	हासन	१०६	'' ''	६	२०-१-६४	सोम १
१५	श्रवणबेलगोला	३२	'' ''	७	२१-१-६४	मंगल
			'' ''	८	२२-१-६४	बुध २

१६	मैसूर	६२	''	''	९	२३-१-६४ गुरु	१
१७	बेंगलोर	८७	''	''	१०	२४-१-६४ शुक्र	१
१८	राणीपेठ	१३७	''	''	११	२५-१-६४ शनि	१
१९	वंदेवास-पोन्नूर	४०	''	''	१२	२६-१-६४ रवि	
			''	''	१३	२७-१-६४ सोम	२

पोन्नूर हिल पर भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के चरणचिह्न हैं, जीर्णोद्धार हो रहा है।

(१५५८ मील सोनगढ़ से पोन्नूर है।)

पोन्नूर तीर्थ धाम की यात्रा के बाद पूज्य स्वामीजी के विहार का कार्यक्रम लगभग निम्नप्रकार रहेगा

१—पोन्नूर से तारीख २८-१-६४ (माघ सुदी १५) पालमनेर; बाद-टुम्कूर, चित्तद्रुग, त्रिमलकोप, गोंटूर, कराड, पूना, नासिक, चांदूर होकर—

२—जलगाँव (तारीख ६-२-६४ तथा ७-२-६४) वहाँ से पलासनेर, सुसारी, पीपलोद, अहमदाबाद, सुरेन्द्रनगर होकर—

३— राजकोट (तारीख १३-२-६४ फागुन बदी अमावस से तारीख २४-२-६४ फागुन सुदी १२) वहाँ फागुन सुदी ३ को समवसरण मंदिर तथा मानस्तंभ का शिलान्यास। वहाँ से जारोवरनगर होकर—

४— रखियाल (तारीख २६-२-६४ से १-३-६४ फागुन सुदी १४ से प्रथम चैत्र बदी तीज) इन दिनों में यहाँ बड़ा भारी उत्सव और मेला होगा नये जिनमंदिर की वेदी प्रतिष्ठा का मुहूर्त प्रथम चैत्र बदी ३। वहाँ से दहेगाम (तारीख २ तथा ३), सोनासण (तारीख ४), फत्तेपुर जहाँ श्री बाबूभाई मेहता रहते हैं (तारीख ५ से ८), तलोद (तारीख ९-१०), बढ़वाण शहर (तारीख ११-१२) जेतपुर, तारीख १३।

५—पोरबंदर (तारीख १४ से २१ प्रथम चैत्र सुदी १ से ८), लाठी (चैत्र सुदी ९),

सावरकुंडला (चैत्र सुदी १० से दूसरा चैत्र बदी २), आंकड़िया (दूसरा चैत्र बदी ३-४), उमराला (दूसरा चैत्र बदी ५-६), गढड़ा (चैत्र बदी ७-८), पाटी (चैत्र बदी ९), राणपुर (दूसरा चैत्र बदी १० से १४)।

६—बोटाद (चैत्र बदी अमावस से दूसरा चैत्र सुदी ८, वहाँ जिनमंदिर में वेदी प्रतिष्ठा मुहूर्त चैत्र सुदी ८) यहाँ भी महोत्सव और मेला होगा।

७—अहमदाबाद (चैत्र सुदी ९ से चैत्र सुदी १३) [चैत्र सुदी १४ से वैशाख बदी पंचमी तक महावीर जयंती बड़े ठाट-बाट से मनायेंगे] अहमदाबाद बाद बम्बई जाने में मार्ग में सूरत पालेज आदि—

८—**वैशाख बदी ६ बम्बई नगरी में प्रवेश** [बम्बई में वैशाख सुदी २ को हीरक जयंती महोत्सव; तथा दादर जिनमंदिर की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का मुहूर्त वैशाख सुदी ११ का है।]

बम्बई में दादर विभाग में श्री कहान नगर जैन सोसायटी में बड़ा भव्य जिनमंदिर तथा समवशरण बन चुका है, समवशरण की सामग्री इतनी सुंदर बनी है कि देखते ही बनता है, जिसकी फिल्म ली गई है। यहाँ जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव-८ दिन का होगा, बड़ी तैयारी हो रही है।

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी)

(तीसरी आवृत्ति)

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांतपूर्वक नयार्थ भी दिये हैं, और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र संख्या ९०० करीब, मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग।

लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका

(चतुर्थ आवृत्ति)

१८०००, बुक छप चुकी हैं, बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्गदर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार, पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता—**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	प्रेस में	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तीसरी आवृत्ति)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
द्वितीय भाग	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
तृतीय भाग	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन		जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ० पूजा भाषा	०-७५		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।